छायावाद और रहस्यवाद

—:०:—

लेखक

श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय

—:०:—

प्रकाशक

रामनारायण लाल

पब्लिशर और बुकसेलर

इलाहाबाद

प्रथम संस्करण] १९४१ [मूल्य १)

पूजनीया शुभ श्री महादेवी जी

को

सादर समर्पित

प्राक्कथन

श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय हिन्दी के अभ्युदयशील आलोचक हैं। इनकी तीन अलोचना पुस्तकें इसके पहले प्रकाशित हो चुकी हैं और यह चौथी पाठकों के हाथ में है। श्री पाण्डेय केवल काव्य के आलोचक ही नहीं हैं, वे कवि भी हैं और उनकी कविता पुस्तकें भी प्रकाशित हो चुकी हैं। पाण्डेय जी की गणना ऐसे आलोचकों में की जायगी जिनमें विश्लेषण और व्याख्या की अपेक्षा अनुभूति और भाव ग्रहण की नैसर्गिक शक्ति हुआ करती है। कहा जाता है कि हंस में नीर-क्षीर का विवेक होता है और वह एक को दूसरे से पृथक् कर देने की योग्यता रखता है। पर कोयल तो वसंत आने पर ही बोलती है और बाकी ऋतुओं में मौन रहती है। वसंत की नैसर्गिक पहचान उसे है, दूसरी ऋतुओं में उसके दर्शन नहीं होते। हंस को हम विवेकी पक्षी कहते हैं पर क्या कोयल में विवेक नहीं है? विवेक न होता तो वह वसंत को पहचानती कैसे? यह बात दूसरी है कि वह अपनी इस पहचान का प्रमाण न दे सके पर वह बोलती वसंत में ही है। यह तो प्रत्यक्ष सत्य है। यह भी संभव है कि वह वसंत को अपने से अलग करके देख भी न सके। पर

इतने से ही उसकी गुणग्राहकता असिद्ध नहीं होती। उसकी वाणी में वसंत की बहार है। इसे कौन अस्वीकार कर सकता है? वह स्वयं वसंत की वाणी है, यह भी कहें तो अनुचित न होगा।

छायावाद युग भी हिन्दी में वसंत की तरह आया और उपवन में कितने ही प्रशस्ति गायक कोकिल-कोकिलाएँ कूज उठीं। श्री गंगाप्रसाद में भी इसी ऋतु की बहार है और यही कोकिल स्वर है। हंस का सा प्रखर पाण्डित्य नहीं, कोकिल का सा मधुर संगीत उनमें है। उनमें सुरुचि है और मुख्यतः इसी सुरुचि के आधार पर उन्होंने अपनी आलोचनाएँ लिखी हैं और कुछ सिद्धान्तों का भी निरूपण किया है। मैं यह नहीं कह सकता कि उनके द्वारा निरूपित सिद्धान्त अकाट्य हैं और तार्किकों के सामने वे ठहर सकेंगे (तार्किकों ने कौन सी चीज़ ठहरने दी है।) पर मैं उस रुचिकी प्रशंसा करूँगा जो उनकी तह में है। तर्क का सबसे अच्छा उत्तर तर्क नहीं है बल्कि वह रचनात्मक कार्य है जिससे व्यक्तित्व का निर्माण होता है। वह व्यक्तित्व ही सब तर्कों का उत्तर है। मैं कह सकता हूँ कि श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय उस रचनात्मक कार्य में संलग्न हैं जिससे उन्हें सुदृढ़ व्यक्तित्व प्राप्त होगा।

जिन लोगों ने छायावाद काव्य को कोरी सौन्दर्यवादिता या स्वप्न के संसार की चीज़ बताया है अथवा जिन्होंने उसे विवशकारी सामाजिक अथवा राजनीतिक स्थिति की 'न्यूरोटिक' प्रतिक्रिया कहा है वे भी छायावादी कवियों के व्यक्तित्व और प्रतिभा के

प्रशंसक हैं। मेरा अपना विचार यह है कि छायावाद काव्य के मूल में स्थित आध्यात्मिक दर्शन के ही कारण नए भौतिक-विज्ञान-वादी इसमें दोष ही दोष देखते हैं। ये दोनों दर्शन एक दूसरे से भिन्न मान्यताओं पर स्थित हैं और इससे भी बड़ी बात यह है कि इन दोनों की शब्दावली में कोई मेल नहीं है। इसलिए दोनों एक दूसरे के प्रति तटस्थ दृष्टि नहीं रख पाते और बड़ी हद तक जो दोनों की समानता है उसकी अवहेलना करते हैं। छायावाद काव्य में विद्रोह और स्वातंत्र्य का, निष्ठा और सजगता का भी स्वर है, इसे विरोध करने वाले नहीं समझना चाहते।

श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय ने इसे समझाया है, और वह इस प्रकार कि उन्होंने छायावादी कवियों के काव्यगत गुणों की, उद्धरण दे-देकर प्रशंसा की है। जो युग छंदों में, भावों में और रचना के अंग-प्रत्यंग में ऐसे सौन्दर्य का संचय कर सकता है, उसे कोई स्वप्नों का युग किस साहस पर कहेगा? यदि वह फिर भी स्वप्नों का युग कहा जाय तो सतयुग किसे कहेंगे? पांडेय जी ने अपनी इस पुस्तक में छायावाद और रहस्यवाद काव्य की संरक्षा केवल उसकी काव्यगत सुंदरता के उद्धरण देकर ही नहीं की है उन्होंने इसका समर्थन करते हुए भारतीय आध्यात्मिक दर्शन की भी सहायता ली है, और कबीर जैसे प्राचीन कवियों का भी प्रमाण उपस्थित किया है। उन्होंने यह तेहरी नाकेबंदी करके नवीन छायावाद काव्य को निरापद बना दिया है।

तो भी इस नाकेबंदी में तार्किक शैली का नहीं बल्कि भावात्मक

शैली का उपयोग किया गया है। यद्यपि पाण्डेय जी दूसरी काव्यधाराओं के विरोधी नहीं हैं पर अपने भावों के प्रवाह में उन्होंने उन अन्यों के प्रति अपनी आस्था का परिचय नहीं दिया है। मैं कह चुका हूँ कि छायावाद काव्ययुग की वसंत श्री पर वे मुग्ध हैं, उसके सुंदर संस्कारों से अनुप्रेरित हैं और उनकी आलोचनाओं में उन्हीं संस्कारों की छाप है। इसलिए मैं उन्हें इस विषय में पुस्तक लिखने का अधिकारी मानता हूँ। यदि और किसीलिए नहीं तो कम से कम विरोध करने की सामग्री पाने के लिए ही यह पुस्तक पढ़ी जायगी। पर मेरी सिफ़ारिश यह है कि इस पुस्तक का अध्ययन छायावाद काव्य के वसूलों और उसकी सुंदर अभिव्यक्तियों का अस्वाद लेने के लिए किया जाय। मैं आमंत्रित करता हूँ कि इस पुस्तक द्वारा आप छायावाद को समझने की कोशिश करें और केवल तर्क के लिए तर्क का पल्ला न पकड़ें।

श्री पाण्डेय ने इस पुस्तक में छायावाद या रहस्यवाद काव्य के प्रेरक सामाजिक उपकरणों का विशद रूप से परिचय नहीं कराया है। पर इसके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि यह काव्य समाज-निरपेक्ष है। यह एक प्रधान आरोप इस काव्य पर अक्सर किया जाता है, पर यह बहुत कुछ निराधार है। छायावादी कवियों ने भी करीब करीब उन्हीं सामाजिक परिस्थितियों में काम किया है और उन्हीं शक्तियों से परिचालित हैं जिनसे कोई भी नव्यतर साहित्यिक। जहाँ तक साहित्य के भावों और कल्पनाओं का

प्रश्न है, उनमें ऐसी ताजगी है और ऐसी परिष्कृति है जैसी ऊँचे काव्य में ही पाई जा सकती है। उनके नमूने इस पुस्तक में अच्छी संख्या में मिलेंगे। मैं कह चुका हूँ कि शब्दावली के अंतर के कारण ही मुख्य रूप से आपस का अंतर बढ़ रहा है। मैं इस अंतर को कुछ थोड़ा सा स्पष्ट कर दूँ।

छायावाद काव्य इस देश की दार्शनिक बुनियाद को स्वीकार करके चला है, और उसमें उसी के अनुरूप शब्दों का संचय है। इस हद तक हम उसे इस देश की प्रकृति के अधिक अनुकूल कहेंगे। उसमें हमारी अपनी जलवायु का असर है। अब आप चाहें तो इस दार्शनिक बुनियाद के विभिन्न पहलुओं और उनके उद्देश्यों तथा सामाजिक जीवन के निर्माण करने में उसकी उपयोगिता का अध्ययन करें; तुलना द्वारा यह जानने का प्रयत्न करें कि इसमें और नवीन समाज विज्ञान में साम्य के कुछ अंश हैं या नहीं। मेरी अपनी धारणा यह है कि शब्दों का अंतर रहते हुए भी इन दोनों में बहुत कुछ समानता है। इतने थोड़े समय के भीतर दो नितान्त विरोधी दृष्टियाँ या दर्शन संभव ही नहीं है। यह एकदम अप्राकृतिक और सृष्टि-विकास की विरोधी बात होगी कि एक ही देश के एक ही समय के और एक ही समुदाय के व्यक्तियों में साम्य का कोई सूत्र ही न हो।

'जग बदलेगा किन्तु न जीवन' इस पंक्ति को लेकर छायावाद के विरोधियों ने अनेक आक्रमण उस पर किए हैं। पांडेय जी ने फिर इस गीत को उद्धृत किया है और इसमें निहित भाव का

समर्थन भी। हम कह सकते हैं कि इस पंक्ति को लेकर जो बहुत से विवाद हुए हैं उनमें बात के आग्रह या stress को समझने की चेष्टा उतनी नहीं की गई है जितना इसे एक फिक्रा बनाकर रखने का उद्योग किया गया है। मेरा निवेदन यह है कि यह फिक्रेबाजी या फिक्राकशी साहित्य के बाहर ही रहने दी जाय। इससे किसी का कोई उपकार होने वाला नहीं। नासमझी और वैमनस्य ही इससे बढ़ेंगे। मैं देखता हूँ कि इस फिक्रे को लेकर दो विरोधी शिविर बन गए हैं। मैं कहना चाहता हूँ, जो मनोवृत्ति इस फिक्रे के संबंध में देखी जाती है वही व्यापक रूप में समस्त छायावाद काव्य के संबंध में फैली हुई है।

'जग बदलेगा किन्तु न जीवन' में 'जग' शब्द से मतलब है संसार के बाहरी सांचे से। उसकी संस्थाओं, व्यवस्थाओं और रीतियों नीतियों से, और जीवन शब्द से मतलब है उस संपूर्ण सांचे में—उन सारी संस्थाओं व्यवस्थाओं के मूल में रहने वाले अक्षय विकास तत्त्व से। आज का कोई भी वैज्ञानिक विकासवादी या प्रगति का हिमायती यह नहीं कह सकता कि वह विकास या प्रगति की अक्षयता का विरोध करता है। पर यही बात जब 'जग बदलेगा किन्तु न जीवन' पंक्ति में कही जाती है तब वे ही लोग इसे असहनीय 'प्रतिक्रिया' के रूप में ग्रहण करते हैं।

मैं इसे ग़ैरजिम्मेदारी की हद समझता हूँ, और जो ग़ैर-जिम्मेदारी यहाँ दिखाई देती है वही सामान्य रूप से संपूर्ण छायावाद काव्य का विरोध करने में भी प्रकट हुई है। केवल साहित्य क्षेत्र

में ही नहीं हमारे राष्ट्रीय राजनीतिक क्षेत्रों में भी यह शाब्दिक युद्ध खूब चल रहा है। इसे लोग आइडियालाजी, वसूलों या सिद्धान्तों का युद्ध कहते हैं पर इसमें मैं सिद्धान्तों और उनकी तफसीलों की चर्चा पाता ही नहीं। मुख्य रूप से यह विभेदकारी मनोवृति का परिणाम है और दल बंदियाँ बढ़ाने में सहायक हो रहा है।

'जग बदलेगा किन्तु न जीवन' इस पंक्ति में जिस अक्षय प्रगति का संकेत किया गया है वही संकेत छायावाद काव्य में 'असीम' 'अनंत' आदि पुनः पुनः आने वाले शब्दों में भी किया गया है। अब आप चाहें तो इस 'असीम' 'अनंत' में एक अनिश्चयात्मकता, पलायन अथवा जड़त्व या अगति की ही मनोदशा दिखाएं पर क्या यह एक जबरदस्ती न होगी? कब आपने इस 'असीम' या 'अनंत' में पाए जाने वाले तत्व (content) की परीक्षा की है? कब आपने इस कविता का स्वतंत्र और तटस्थ अध्ययन किया है?

यह तलवार 'डबल एजेड' या दो नोकों वाली है। इसमें जितना खतरा आक्रमण किए जाने वाले पर है उतना ही आक्रमण-कारी पर भी है। इसलिए इसका प्रयोग करने के पहले सोच-समझ लेने की ज़रूरत है। मैं यह नहीं कहता कि हम लोगों में आपस का कोई मतभेद नहीं है या न हो। मतभेद होना जीवन का लक्षण है पर मतभेद को बढ़ाकर इस तरह पेश करना कि दूसरा पक्ष अपदस्थ हो जाय साहित्यिक सौजन्य या ईमानदारी की बात नहीं है।

छायावादी प्रायः नैतिक और आध्यात्मिक शब्दावली का प्रयोग करते हैं। वे व्यक्तिगत और सामूहिक चारित्र्य पर ज़ोर देते हैं। साधना पर विश्वास रखते हैं। इन शब्दों की हँसी उड़ाना तो आसान काम है पर इनके आग्रहों और उद्देश्यों को समझना उतना आसान नहीं। किसी देश या राष्ट्र की नैतिक शक्ति ही उसकी उन्नति का मापदंड है। कोई भी बाहरी कार्यक्रम, वह चाहे रचनात्मक हो अथवा क्रान्ति ही क्यों न हो बिना नैतिक शक्ति के कोरा स्वप्न है और रहेगा। हमारा साहित्य और हमारा राष्ट्र विद्रोह की ओर भले ही बढ़े, वह अराजकता का प्रचार कितना ही क्यों न करे पर उस विद्रोह और उस अराजकता का असफल होना निश्चित है, यदि हममें बुद्धि, विवेक और उनसे उत्पन्न होने वाला नैतिक और आचार का गुण नहीं है।

हम अपनी पारिवारिक और सामाजिक संस्था में जो कुछ परिवर्तन चाहते हैं, उसे अधिक ऊँचा उठाने के लिए ही चाहते हैं। यही हमारी प्रगति का नैतिक आधार है जिसे कोई भी राष्ट्र छोड़ दे तो ख़तरा ही उठावेगा।

अब यहाँ यह प्रश्न ज़रूर उठता है कि क्या छायावादी काव्य केवल नैतिक या आध्यात्मिक शब्दावली का प्रयोग ही करता है अथवा उसमें कुछ ऊँची नैतिकता है भी? छायावाद और विशेष कर रहस्यवाद में जीवमात्र की एकता का जो संदेश सुनाया गया है उसे हमारे नवीन विचारक आज के लिए दिमाग़ी ऐयाशी या दिवा स्वप्न जैसी चीज़ समझते हैं। इसमें उन्हें सच्ची नैतिकता नहीं

दिखाई देती। इसका कारण यह है कि आज तो राष्ट्रों और वर्गों का संगठन ही मुख्य उद्देश्य है। पर यह संगठन किस लिए है ? मैं मानता हूँ कि इसका अंतिम और उच्चतम लक्ष्य राष्ट्रों की समानता और एकता स्थापित करना और वर्गों का अस्तित्व मिटा देना ही है। सभी प्रसिद्ध विचारक इस लक्ष्य को सामने रख रहे हैं। फिर हम अपने काव्य में अभिव्यक्त हुए इस नैतिक तत्व को अनैतिक क्यों कहते हैं ?

अक्सर कहा जाता है कि यह नैतिकता वास्तव में अकर्मण्यता का दूसरा नाम है और देश की वर्तमान स्थिति में कोई क्रान्तकारी परिवर्तन इसके आधार पर नहीं हो सकता। इसका कोई उत्तर हम नहीं देना चाहते क्योंकि यह तो व्यक्तिगत राय की बात है। इतना हम अपनी जानकारी से अवश्य कहेंगे कि कोई भी प्रमुख छायावादी कवि अपने देश की वर्तमान व्यवस्था से संतुष्ट नहीं है और वह परिवर्तन चाहता है। यदि वह आर्थिक व्यवस्था संबंधी परिवर्तन को ही एकमात्र परिवर्तन नहीं मानता तो हम उसके प्रति इतने बेरहम न हो जाएं कि उसे प्रतिक्रियावादी, शोषक वर्ग का गुर्गा आदि अपशब्दों से याद करें।

विचारों का स्वातंत्र्य और आपस की समझदारी हम में होनी चाहिए। यदि मानसिक भूमिका की बात कही जाय तो वर्गगत संस्कारों से न छायावादी—छूट पाए हैं और न हमारे नए विचारक ही। दोनों की गति उसे छोड़ने की दिशा में ही है। यह प्रयास कोरा

बौद्धिक नहीं है बल्कि सामाजिक प्रेरक शक्तियों का स्वाभाविक परिणाम है।

विषाद, असफलता और किंकर्तव्यता का असर जितना एक में है, दूसरे में उससे कम नहीं। पांडेय जी ने, बल्कि, उसे अति-आधुनिक कविता में अधिक ही बताया है। पांडेय जी के वाक्य ये हैं—'कला को (आज) स्थूलता और अश्लीलता की ओर घसीटा जा रहा है। लोकप्रियता की झक में काव्य के उपादान भी स्थूल माने जाने लगे हैं किन्तु मेरा विचार है कि इस विषय में जनसाधारण में व्यर्थ की ग़लतफ़हमियाँ फैलाई जाती हैं और कुछ नए व्यक्ति अपने को प्रगतिशील साहित्यिकों की श्रेणी में रखकर सस्ती ख्याति भी कमा रहे हैं।......प्रगति किसी श्रमिक, अथवा कृषक या वेश्या तथा किसी अन्य दलित व्यक्ति का नग्नचित्र उपस्थित कर देने में ही समाप्त नहीं हो जाती।......लोगों को आश्चर्य में डालने वाले नग्न, अनैतिक आदर्शों की घोषणा भी प्रगति का पथ नहीं है।......मैं तो देखता हूँ कि यदि इस नए साहित्य से साहित्यकार की पार्थिव भूख तथा वासना को निकाल दिया जाय तो बहुत कम शेष रह जायगा। तब तो इसे उद्दाम वासनाओं के नग्न नृत्य का उपादान ही कहना पड़ेगा'।

इस आरोप में भी नैतिक शब्दावली की प्रधानता है। असल में यह आक्षेप नई काव्य की उन्हीं 'न्यूरोटिक' और समाजविरोधी (antisocial) प्रवृतियों के विरोध में किया गया है जिसकी शिकायत नए लोग छायावादियों से करते हैं।

इसके विरोध में फिर कहा जा सकता है कि लेखक सामाजिक परिवर्तन के अवश्यंभावी परिणामों और नवीन कर्तव्यों से मुंह मोड़ रहा है और एक रूढ़िवद्ध नैतिक आधार की कल्पना करता है जो वास्तविक परिस्थिनि को देखते हुए प्रतिक्रियात्मक है। नीतिवादी प्रायः पुरानी व्यवस्था के ही पृष्ठपोषक और अधिकार प्राप्त वर्गों के पिछलगे हुआ करते हैं।

यह भी एक व्यक्तिगत आक्रमण है और अपनी राय की बात है, इसलिये मैं इसका भी कोई उत्तर न दूंगा। मैं कह चुका हूँ कि इसका उत्तर उन लेखकों और कवियों का व्यक्तित्व ही दे सकता है जो इन विरोधियों के सामने है। तो भी ऊपर दिए हुए पांडेय जी के उद्धरण में किसी रूढ़नीति का पक्षपात नहीं दिखाई देता बल्कि साहित्य का मनोवैज्ञानिक आधार शुद्ध करने का सुझाव है। और यह मनोवैज्ञानिक आधार तब सुधरेगा जब हम समाजव्यवस्था के संबंध में सचेत, बुद्धिवादी और सच्चे अर्थ में प्रगतिशील दृष्टि रक्खेंगे।

छायावादी कवि सामाजिक परिवर्तन के क्रम से अपरिचित हैं, उन्हें इस परिवर्तन के बीच अपने कर्तव्य का ज्ञान नहीं है और छायावाद काव्य मुख्यतः दुनियाँ से अलग किसी रहस्यमयी सत्ता में विश्राम लेता है, वह जीवन का सामना नहीं करना चाहता, और उसका संपूर्ण जीवनदर्शन ही काल्पनिक और ऐकान्तिक है, इस तरह के आक्षेपों से एक समस्त युग के साहित्य को टरकाया नहीं जा सकता। छायावादी कवि सामाजिक परिवर्तन संबंधी

मार्क्सवादी निर्देशों से पूरे तौर पर चाहे परिचित न हों पर वे अपने चारो ओर की परिस्थिति से अनुप्रेरित अवश्य हैं। जिस हवा में वे साँस ले रहे हैं उसकी उपेक्षा वे कर ही कैसे सकते हैं? रही कर्तव्य की बात। कर्तव्य में भी वे किसी दूसरे साहित्यिक वर्ग से पिछड़े हुए हैं यह कहने के लिए साधारण से अधिक धृष्टता ज़रूरी होगी।

रहस्यमयी सत्ता में विश्राम पाने की बात भी उतनी ही सच या झूठ है जितनी यह बात कि भौतिक वैज्ञानिक दर्शन भी हीगेल के 'अपरिणामी परंपरा' से जुड़ा हुआ है जिसका कोई ओर-छोर नहीं। मैं कह चुका हूं कि इस प्रकार के तर्क की तलवार दो मुंही है और इसमें एक ही पक्ष को ख़तरा नहीं है।

मैं यह भी कह चुका हूँ कि हमारा लक्ष्य कृत्रिम विभेद बढ़ाना नहीं, जहाँ तक हो, आपस के विचार विनिमय से उसे कम ही करना है। मैं मानता हूँ कि मार्क्सवादी दर्शन में कोई ऐसी बात नहीं है जो हमारी नैतिक उन्नति में रुकावट डाले और न हमारे आध्यात्मिक दर्शन में ही कोई ऐसी बात है जो नवीन समाजवादी व्यवस्था के लिए घातक हो। अवश्य इन दोनों का आग्रह कुछ-न-कुछ अंतर लिये हुए है। हमारा कर्तव्य यह नही कि हम इस अंतर को लेकर तिल का ताड़ बनावें और घातक शाब्दिक युद्धों में प्रवृत्त हों। हमारा कर्तव्य यह है कि अपनी समझदारी का दायरा बढ़ावें और यह उसी हालत में संभव है जब मेल-मिल्लत से काम लें।

दुनियाँ, देश, राष्ट्र और समाज के विकास का रास्ता हमेशा आगे बढ़ता रहता है और इस विकास की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के अनुरूप मनुष्य अपनी रीति-नीति और व्यवहार बदलता रहता है। साहित्य भी नित्य-नवीन सामाजिक व्यवहारों और समस्याओं के अनुरूप नई नई शक्लें धारण करता है। इसी नियम के अनुसार छायावाद भी अपने आगे आने वाली काव्य धारा के लिए मार्ग बना रहा है। पर इन परिवर्तनों के बावजूद मानव संस्कृति अथवा प्रगतिशील चेतना अपने लक्ष्य से नीचे नहीं गिरती। उसी प्रकार हमारा साहित्य भी नई विचार धाराओं से नई परिस्थितियाँ प्राप्त करता, नए कला-स्वरूपों में प्रकट होता और नए आमोद का विषय बनता है। इसे साहित्य की प्रगति कहिए या उसका आभिजात्य कहिए। यह अक्षय है और अपनी ऊँची सतह से गिरना नहीं जानती।

पांडेय जी ने साहित्य का यही ऊँचा लक्ष्य सामने रख कर छायावाद और रहस्यवाद काव्य पर अपने विचार प्रकट किए हैं। यही इस पुस्तक का सबसे बड़ा आकर्षण सिद्ध होगा। कवि-कवि में और काव्य-काव्य में अंतर हुआ करता है। शब्दों के फेर से इसे कवि की साधना, काव्य का भाव-सौष्ठव अथवा रचना का वैशिष्ट्य कहते हैं और इसे ही कवि का सामाजिक संपर्क मानसिक उत्कर्ष और कला-प्रतिभा कहा गया है। पांडेय जी ने छायावाद और रहस्यवाद की काव्य सुषमा प्रदर्शित करने और उसके दार्शनिक आधार दिखाने का यह प्रथम पुस्तकाकार सफल प्रयास

किया है। नैसर्गिक सुरुचि और अभ्यास के फलस्वरूप उन्होंने जो उद्धरण यहाँ दिए हैं, उनमें मनोहारिता है और जिन साहित्यिक प्रवृतियों का उल्लेख किया है उनमें एक सहज अंतरंग अभिन्नता है। इसका कारण स्पष्ट ही यह है कि वे स्वयं छायावाद काव्य के एक होनहार कवि हैं और इस काव्यधारा के प्रमुख कवियों और साहित्यिकों के निकटतम संपर्क में आ चुके हैं।

इतना कहने के बाद मैं पुस्तक को अपनी शुभकामनाओं के साथ पाठकों के हाथों में जाने दूंगा।

—नन्ददुलारे वाजपेयी

निर्देश

साहित्य की सार्थकता

आज कल साहित्य का प्रयोजन तथा उसकी उपयोगिता को लेकर एक आन्दोलन सा चल पड़ा है। मनुष्य की सारी सृष्टि उसके जीवन को लेकर ही अपना अस्तित्व रखती है। जीवन से अलग होकर उसका कुछ मूल्य नहीं रह जाता। अब देखना यह है कि हमारा साहित्य, जीवन से किस प्रकार सामञ्जस्य रखता है। इस बात को समझने के लिये हमें पहिले जीवन को समझना आवश्यक है। हमारा जीवन उस महान वट-वृक्ष के समान है जो अपनी शाखाओं-प्रशाखाओं तथा पल्लवों के सहित संसार के सामने खड़ा है, और जिसकी जड़ों का विस्तार आँखों से ओझल पृथ्वी के नीचे अपने अस्तित्व को छिपाये हैं। वट-वृक्ष की बाह्य स्थिति स्थूल तथा प्रत्यक्ष है और उसकी जड़ों वाला भाग अप्रत्यक्ष। इन्हीं दोनों भागों से वट-वृक्ष की पूर्णता है। इन दो भागों में से किसी एक को भी छोड़कर हम उस वृक्ष की साकारता की कल्पना भी नहीं कर सकते। यही नियम किसी भी विशाल वृक्ष से लेकर छोटे से पौधे तक के लिये लागू होता है। वृक्ष की वस्तुस्थिति का स्वरूप स्पष्ट होने के बाद हमें अब उसके पोषण की विधि पर विचार करना है। वृक्ष का पोषण उसके दोनों भागों से होता है। उसकी पत्तियाँ, डालियाँ भी वायु से खुराक ग्रहण करती हैं

और नीचे की जड़ें भी पृथ्वी से जीवन-रस प्राप्त करती हैं। इन पोषण की दोनों विधियों की अपनी अपनी उपयोगिता एवं आवश्यकता है। फिर भी एक अधिक और एक कम महत्व रखती है। जड़ों को सींचकर, जड़ों में खाद देकर वृक्ष को जो संजीवनी शक्ति दी जा सकती है वह उसकी पत्तियों तथा शाखाओं द्वारा नहीं। तब हम इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि वृक्ष की भीतरी पुष्टि का ही परिणाम उसका ऊपरी स्वरूप है। उसकी बाहरी आकृति को मोड़, झुकाव तथा काट-छाँट द्वारा एक बाह्य स्वरूप भले ही दिया जा सके किन्तु उसकी प्राण-पोषिका शक्ति जड़ों के ही द्वारा पहुँचायी जा सकती है। अब वृक्ष की उपयोगिता की बात पर विचार करना चाहिये। उसके बाह्य स्वरूप में छाया, शाखायें तथा पत्तियाँ सभी भिन्न भिन्न उपयोग की वस्तुयें हैं। उसके बाह्य सौन्दर्य की भी अलग उपयोगिता है। उसके भीतरी स्वरूप की कोई प्रत्यक्ष उपयोगिता नहीं दीखती किन्तु क्या हम उसे अनुपयोगी तथा व्यर्थ की संज्ञा दे सकते हैं? कदाचित् नहीं, क्योंकि हम वृक्ष के विकास क्रम में उसका महत्व तथा उसकी उपयोगिता समझ चुके हैं। उसी को लेकर वृक्ष की वह स्थिति है जिसकी उपयोगिता का हम प्रत्यक्ष उपयोग करते हैं। अस्तु इन सभी विवेचनाओं से हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि वृक्ष के दोनों भाग उपयोगी और आवश्यक हैं। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। हाँ, इतना अन्तर अवश्य है कि उसका बाहरी भाग वातावरण के अनुसार बनता बिगड़ता रहता है और उसका भीतरी भाग अपने में लीन अपना विकास करता रहता है।

यही हाल हमारे जीवन का भी है। मानव-शरीर के जितने अंश को

हम अपनी आँखों से देखते हैं, जो स्थूल है, प्रत्यक्ष है उतने से ही हमारा शरीर पूर्ण नहीं होता क्योंकि हमारी आँखों की दृष्टि के परे भी हृदय, मस्तिष्क आदि अनेक अंग मिलकर ही उसे पूरा बना पाते हैं। मनुष्य संसार में किसी भी कार्य करने की शक्ति अपने वाह्य तथा आन्तरिक अंगों के सहयोग से ही प्राप्त करता है। केवल एक भाग, छिपकली की कटी पूंछ से अधिक क्रियाशील नहीं हो सकता। मानव शरीर की भाँति उसका जीवन भी द्वैतात्मक है। वातावरण में बद्ध, परिस्थितियों से पिसा जीवन का जो भाग, अपने कार्य कलापों को लेकर हमारे सामने है उससे ही उसकी पूर्णता नहीं है। वह जीवन का सार सत्य नहीं है; खंड मात्र है, पूर्ण नहीं है, अधूरा है। पूर्णता के लिये हमें जीवन की अनन्त भावनायें, कामनायें तथा इच्छायें जो कल्पना लोक में निवास करती हैं, निर्माण के अनेक स्वप्न जो पलकों में पले हैं तथा अन्तर-जगत के अनेक द्वन्दों को भी देखना और समझना पड़ेगा। तभी हम जीवन को पूर्ण रूप से पा भी सकेंगे।

मनुष्य का जीवन अनुभूतियों का एक संकलित स्वरूप है। अनुभूतियों का अस्तित्व मनुष्य के वाह्य, स्थूल, तथा सीमित जीवन और उसके आन्तरिक सूक्ष्म एवं असीमित जीवन दोनों में है। इन दोनों प्रकारों की अनुभूतियों के समन्वय से जीवन को स्वरूप मिलता है। इनकी उपयोगिता भी अलग अलग है। इनमें से यदि एक उसे संसार तथा समाज के उपयुक्त बनाती है तो दूसरी उसे उसकी आत्मिक सत्य की खोज में सहायता पहुँचाती है। इस प्रकार जीवन के दो रूप हमारे सामने आते हैं। एक तो वह जो अपनी पार्थिव समस्याओं के सुलझाने में व्यस्त है

और दूसरा वह जो अपनी आत्मा के आदर्शों की स्थापना की आकाँक्षा से आकुल है। कला जीवन के आत्मिक अंश की उपज है जो हमारे व्यावहारिक स्थूल जीवन को सरस और सुन्दर बनाती है।

साहित्य का अर्थ समाहित होना, एकत्र होना तथा मिलना है। इस प्रकार मानव जीवन की भिन्न भिन्न एवं अनुकूल प्रतिकूल परिस्थितियों में, उसकी बाह्य तथा आन्तरिक अनुभूतियों के फल स्वरूप प्राप्त विशेष विचारों को, लेखनी, वाणी अथवा व्यवहार से जो मन, हृदय तथा प्राणों में समाहित कर सके, उसे हम साहित्य कहेंगे। कला का अर्थ चातुरी अथवा हुनर है। साहित्य में की जाने वाली चतुर शिल्पकारी को ही केवल साहित्य-कला माना जा सकता है। कला का आशय छटा तथा शोभा से भी है, इसी अर्थबोध से कलाकार बनता है। कला की इस कमनीयता के लिये हमारा बाह्य शरीर उतना लालायित नहीं रहता जितना हमारा हृदय। विश्व का यह सत्य और सनातन सिद्धान्त है कि प्राणी मात्र सौन्दर्य के लिये उत्सुक रहता है, सौन्दर्य पिपासा उसका सहज स्वभाव है। इस सौन्दर्य की उपासना में भूल होने की सम्भावना भी है क्योंकि विश्व में सत् तथा असत् दोनों प्रकार के सौन्दर्य पाये जाते हैं और ऐसी अवस्था में मनुष्य के लिये सौन्दर्य की स्पष्ट वस्तुस्थिति समझना भी कठिन हो जाता है। इसका परिणाम भयावह और विनाशकारी होता है। साहित्य को ऐसी भूलों से बचाने के लिये ही कला की आवश्यकता होती है। कला अपनी रागात्मक प्रवृत्ति के द्वारा हमारे हृदय के अंधकार को दूर कर देती है, अपनी इसी कार्य-कुशलता के कारण कला को ज्योति, प्रकाश-पुंज की संज्ञा मिली है। साहित्य का अन्तप्रर्देश कला के इसी प्रकाश स्पर्श

से जीवित, जाग्रत तथा पुलकित रहता है। वास्तव में मनुष्य के भीतर सत्य का एक ऐसा क्रियात्मक तथा रहस्यमय अंश छिपा हुआ है जो अपनी अभिव्यक्ति के लिये अत्यन्त आकुल है और इसी सत्य का सुन्दरतम-प्रकाशन ही कला है। इसीलिये साहित्य कला का उद्देश्य ही यह है कि हमें जीवन के भिन्न भिन्न अंश-सत्यों से ले जाकर सौन्दर्य के माध्यम से उस परम सत्य की ओर, जो अगोचर है, हमारी भौतिक इन्द्रियों में अव्यक्त है, जिसमें जीवन की समस्त बासनायें अपने आप शांत तथा पवित्र हो जाती है, प्रगतिशील करे। तभी तो कला आदर्शवादी आस्तिकों के लिये वह पावन पयस्विनी है जो उन्हें साहित्य के मिलन-पथ से ले जाकर उनके हृदय में स्थिति आदर्श-सागर से मिला देती है। यथार्थवादी घोर नास्तिकों के लिये भी वह जीवन का विशिष्ट सौन्दर्य तथा आकर्षण है। अस्तु यह कहना ठीक है कि साहित्य का आरम्भ समाहित करना तथा उसका अन्त मिलन है। कला का आरम्भ सौन्दर्य तथा उसका अन्त प्रकाश है। साहित्य कला का यही समन्वयात्मक स्वरूप विश्व-मानव को उस मिलन मन्दिर में पहुँचा देता है जहाँ वह अपने को महामानव में लीन कर देता है। जहाँ जीवन और मृत्यु, सुख और दुःख, राग और विराग में कोई भेद नहीं रह जाता। यही साहित्य-कला का चरम उद्देश्य है! इस उपर्युक्त विवेचन से मनुष्य को चाहे सौन्दर्य-प्रिय कहा जाय चाहे कला-प्रिय उसकी स्थिति में कोई भी अन्तर नहीं पड़ता। यही कला-प्रियता उसे पशु-जगत से बाहर रखती है अन्यथा आहार-विहार में वह पशु है ही। एक पशु का अपने पेट भरने की सामग्री से सीधा मतलब रहता है। वह उसके सामने किस

प्रकार से, किसके द्वारा और किस पात्र में आयी आदि बातों का ध्यान नहीं रखता। उसका आहार चाहे सूखे बाँस के बने बर्तन में हो चाहे चाँदी के हौदे में, इससे उसका कोई मतलब नहीं, उसे तो केवल खाना चाहिये। मनुष्य ऐसा नहीं कर पाता। भोजन के साथ साथ उसे सफाई और सुपात्रता भी चाहिये। सुन्दर गंगा-यमुनी थाल में परोसा हुआ भोजन स्वभावतः उसे मिट्टी के थाल वाले भोजन से अच्छा लगेगा, यद्यपि भूख का समाधान दोनों भोजनों में बराबर है। पढ़ने लिखने का काम एक साधारण बेडौल मेज से भी लिया जा सकता है किन्तु सुन्दर नक्कासी किया हुआ मेज मनुष्य को अधिक प्रिय होगा। यही उसकी कला प्रियता है, मानवता है और है उसके विकास की क्षमता।

साहित्य और कला का स्वरूप हमारे सामने स्पष्ट है। अब उसका जीवन से सम्बन्ध तथा उसकी उपयोगिता पर दृष्टिपात करना है। कला, कला के लिये या जीवन के लिये, यह प्रश्न बहुत पुराना होते हुये भी नित नया रूप धारण करता रहता है यद्यपि प्रकारान्तर से हम इसी तथ्य पर पहुँचते हैं कि जीवन कलामय है और कला सजीव क्योंकि यदि कला सौन्दर्य की अभिव्यक्ति है तो जीवन उसकी साधना। यह पहिले कहा जा चुका है कि अनुभूति की प्राची पर ही कला का उदय होता है और इन कलात्मक अनुभूतियों की संचारणी शक्ति जीवन के बाहरी सरूप से उतना लगाव नहीं रखती है जितना आन्तरिक भाव-रूप से। यों तो सभी विचार भी मानव-मन में तरंगित सचेतन शक्ति के प्रतिनिधि होते हैं, किन्तु उनमें निरपेक्ष साकारता हो आ पाती है, सापेक्ष सप्राणता नहीं। अनुभूति में प्राणी की प्राणस्थिति सजलता और प्रज्ञाप्रस्थिति कोमलता अनुप्राणित रहती है ;

वह मानव-जीवन के अमरत्व-प्रद क्षणिक-क्षणों की सबसे सुन्दर एवं कमनीय तथा सात्विक वाणी है। अस्तु अनुभूति की इस उपज, कला से हम अपनी भौतिकता का स्वरूप नहीं सँभाल सकते क्योंकि जीवन के बाह्य आदर्शों की तुष्टि के उपकरण राजनीत अथवा अर्थ शास्त्र हैं।

जीवन केवल अर्थशास्त्र और राजनीति की समस्याओं में ही समाप्त एवं सम्पूर्ण नहीं होता, समाजवाद के ढोंग पर जीवन के आत्मिक तथा सात्विक तत्वों का बलिदान नहीं किया जा सकता क्योंकि आभ्यान्तरिक धरातल में अंकुरित अशान्ति एवं असंतोष का उपचार ऊपरी उगे हुये दोषों के समान किया जाना व्यर्थ और हास्यास्पद है। जीवन का, आन्तरिक भावनाओं का विनाश किसी प्रकार भी नहीं किया जा सकता क्योंकि इस विश्व की अनिश्चयात्मक प्रवृत्ति में जीवन और मरण की भाँति सत्य और शाश्वत और कुछ नहीं हैं; फिर हमारा बाहरी जीवन तो उस जीवन का एक अंश, एक आभा और एक अभिव्यक्ति हैं। इसीलिये सूक्ष्म अनुभूतियों का जीवन स्वयं सत्य, चिरन्तन एवं शाश्वत है और हमारा पार्थिव जीवन, समाज का, संसार का, कठपुतला सत्य नहीं असत्य, चिरन्तन नहीं क्षणिक, एवं सम्पूर्ण नहीं आँशिक है। अस्तु कला में बाह्य जीवन सम्बन्धी आरोप चाहे वह धार्मिक हों, चाहे नैतिक अनुचित है। जिस प्रकार विज्ञान और नीति भौतिक संस्कृति का निर्माण कर सकते हैं, दृष्ट जगत की सतह पर जो है उसका विश्लेषण और विकास कर सकते हैं उसी प्रकार कला मानसिक जगत की पोषिका है! जीवन को पार्थिव और अपार्थिव दोनों पोषणों की आवश्यकता है। वास्तव में हमारा जीवन शारीरिक तथा आत्मिक तृप्ति प्राप्त के प्रयत्नों का संघात है इनमें से

कोई भी एक तृप्ति हमें संतुष्ट एवं सुखी नहीं बना सकती, इसमें सन्देह नहीं है। इस विश्व में अनेक बार हम ऐसे उदाहरण पाते हैं कि मनुष्य सभी पार्थिव आवश्यकताओं की पूर्ति तथा सुख के साधनों के होते हुये भी जीवन से ऊब जाता है। सभी कुछ प्राप्त होने पर भी उसका मन एक मानसिक अभाव का अनुभव करने लगता है। इन घटनाओं के मूल में कौन सा रहस्य है? वही आत्मिक असंतुष्टि, जिसका समाधान हमारी कलात्मक सृष्टि है। प्रत्यक्ष उदाहरणों द्वारा हमें इस मानसिक जगत को बहुत स्पष्ट रूप में समझ लेना होगा। यही मानसिक स्थिति, यही आध्यात्मिक तत्व, यही अन्तप्रदेश तथा यहीं अदृश्य-जगत मानव को प्रकृति का सर्व श्रेष्ठ विकास की संज्ञा देता है और यही उसको पशु जगत से भी अलग करता है। हमारी जिस ममतामयी माता ने हमें अत्यन्त कष्ट के साथ अपने हृदय के स्नेह रस द्वारा पैदा तथा पालित किया है उसकी इस स्नेह-वृत्ति का क्या मूल्य है? माँ के वाह्य व्यवहार और उसकी पार्थिवता के नाते उसका हमारा पालन एक स्वाभाविक सन्तान-पालन वृत्तिमात्र है जैसा अन्य प्राणधारी जीव करते हैं। इसके लिये तो हमें उसका कृतज्ञ भी होने की आवश्यकता नहीं है किन्तु हम उसके प्रति भक्ति, आदर तथा स्नेह का भाव क्यों अनुभव करते हैं? इसका कारण केवल माँ की आध्यात्मिक स्नेह-सरिता का वह प्रभाव है जो हमारी नस-नस में पुलकित है, हमारी आत्मा में व्याप्त है, और जो हमारे आत्मिक लोक की सत्ता का सबसे सबल प्रमाण है। माँ के आध्यात्मिक स्वरूप का बोध हमारे मन को, हृदय को तथा आत्मा को है, हमारे हाथ पैर उसका अनुभव नहीं कर सकते किन्तु अपनी इस अतेन्द्रियता में वह

अनावश्यक तथा अवास्तविक नहीं, वरन् प्रत्यक्ष सत्य है। अनंत के प्रति रागात्मक भाव कोई वैज्ञानिक प्रतिपादन नहीं हैं, कोई दार्शनिक तत्व भी नहीं है हमारी पार्थिवता से उसका कुछ सीधा सम्बन्ध भी नहीं है किन्तु फिर भी वह एक आत्मानुभूत जीवित सत्य है। अपनी किसी भी शारीरिक समस्या का समाधान उससे न पाते हुये भी हम अनन्त काल से उसके लिये विकल हैं, साधना करते हैं, कष्ट उठाते हैं, यहाँ तक कि आत्म-त्याग तक कर देते हैं। यह केवल हमारी आध्यात्मिक क्षुधा है, जो शारीरिक या पार्थिव क्षुधा से किसी प्रकार भी कम आवेगमयी नहीं है! सम्भवतः आध्यात्मिक-जगत और उसकी आकाँक्षाएँ अब हम पूर्णतया अवगत कर चुके हैं।

हाँ तो, साहित्य-कला हमारे सूक्ष्म जीवन की अभिव्यक्ति है। अपने चारों ओर हम दिन रात देखते हैं कि जीवन में इतना अंधकार, इतना संघर्ष और इतनी अपूर्णता है कि हम उसकी कल्पना मात्र से विचलित हो उठते हैं, एक अज्ञात अभाव एवं भार हमारे प्राणों को कुचलने सा लगता है, हम आक्रांत होकर इधर उधर रक्षा के लिये देखने लगते हैं। ऐसी अवस्था में जो एक सहानुभूति का अमर आश्वासन हमें मिलता है, हमारी संतप्त आत्मा को जो एक सरस सांत्वना मिलती है, वह अनेक साधनों से सुलभ होती है। साहित्य उन साधनों में से एक है। हमारे जीवन की निरानन्द अशान्ति में साहित्य की ज्योत्स्ना से एक शांत शीतलता मिलती है, उसका मूल्य उतना शारीरिक नहीं जितना मानसिक है, उतना पार्थिव नहीं जितना अपार्थिव है। इसी कारण साहित्य साधना से प्राप्त आनन्द तथा विश्राम साधारण पार्थिव आनन्द से भिन्न माना गया है।

जीवन में कुछ क्षण ऐसे भी आते हैं जो दैनिक साधारण क्षणों से भिन्न होते हैं क्योंकि ऐसे क्षणों में हमारा जीवन साधारण पार्थिवता के धरातल से ऊपर उठकर उस अपार्थिव जगत में विचरण करने लगता है जिसका एक अंश हमारा यह भौतिक जीवन है। उस समय भौतिक अभाव एवं शारीरिक संताप अपना अस्तित्व खो देते हैं, उस समय 'रोटी का राग,' 'क्रान्ति की आग' का कुछ स्मरण नहीं रहता। जीवन तथा साहित्य का महत्व समझने वाले एक विद्वान के इस कथन का यहाँ बरबस स्मरण हो आता है "ये क्षण जीवन में बहुत विरले होते हैं किन्तु हैं अमर। बुद-बुदों सा अस्तित्व लेकर ये अपने को तथा अपने संपर्क वाले व्यक्ति को अमर बनाने के लिये उदित होते हैं। व्यस्त एवं व्यथित हृदय पर मधुकण की भाँति गिरकर उसे मधुर बनाते हैं, उसे मधुरता से सहज ही शांत और सरस बनाकर शान्ति प्रदान करते हैं। उस समय वह मानवता के सीमित धरातल से उठकर महामानवता की भूमि पर प्रस्थित हो जाता है"। ऐसे ही क्षणों की सृष्टि साहित्य है। ऐसा साहित्य मानव भावनाओं तथा उसकी अनुभूतियों की प्रथम एवं अन्तिम रागात्मक अभिव्यक्ति है और मानव-भावनाएँ मानव जीवन में ही जीवित है अतः जीवन तथा साहित्य का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है, किन्तु वह जीवन की बाह्य नहीं वरन् आन्तरिक अभिव्यक्ति है क्योंकि साहित्य की सृष्टि मनोभावों से होती है— जीवन की प्रत्येक अभिव्यक्ति साहित्य नहीं, जीवन की प्रत्येक स्थिति उसके उपयुक्त भी नहीं अन्यथा बच्चों के खेल सम्बन्धी नारे भी साहित्य की संज्ञा पा जाते। राजनीति भी साहित्य नहीं, अर्थशास्त्र साहित्य नहीं, रोटी साहित्य नहीं, नोन तेल लकड़ी साहित्य नहीं, पैसों के हिसाब के लिये ताँगे

वाले से लड़ना साहित्य नहीं, चुनाव की कनवेसिंग साहित्य नहीं और न बौद्धिक सिद्धान्त ही साहित्य है क्योंकि इनका मनोभावों से कोई सम्बन्ध नहीं हैं। साहित्य की चर्चा करते समय आज तक किसी ने मनुस्मृति का नाम लेने की धृष्टता नहीं की। अस्तु हम कह सकते हैं कि जीवन अनेक विरोधी क्षणों तथा घटनाओं का समष्टि रूप है किन्तु साहित्य जीवन के संगतियुत नियमित क्षणों की अभिव्यक्ति। जीवन में यदि मानवता की विचार धाराओं की अविकल अभिव्यक्ति है तो साहित्य में उसे सरस एवं सुसंस्कृत करने की क्षमता। ये दोनों एक होकर भी भिन्न हैं। हमारा जीवन शरीर तथा आत्मा के आधार से बना है, दोनों का समीकरण उसे पूर्णता देता है पर इसमे हम शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये आत्मा को नहीं घसीट सकते। सिर दर्द की त्राण के लिये पैरों में अमृताञ्जन की मालिश नहीं कर सकते। यदि हम ऐसा करें भी तो संसार हमें क्या कहेगा, वह मैं नहीं कहना चाहता। अब हम साहित्य की उपयोगिता पर विचार करेंगे।

जीवन में हमें प्रत्यक्षत दो प्रकार के प्रयोजनों की आवश्यकता पड़ती है। एक जो हमारे शरीर को स्वस्थ, स्निग्घ तथा सुन्दर रखे, दूसरा जो हमारी आत्मा को, हमारे आध्यात्मिक जगत को प्रकाशित रखने में सहायक हो। भारतीय आदर्श के अनुसार जीवन में आध्यात्मिक आधार को ही प्रधानता दी गई है। आज का वस्तुवाद से व्यस्त युग भी गाँधी का सम्मान उनके सुन्दर सिद्धान्तों तथा उनके आकर्षक एवं सुगठित शरीर के लिये नहीं वरन् उनकी आत्मा की विकास सत्ता के लिये ही करता है। कांग्रेस को एक दम छोड़कर अकेला रह जाने की धमकी तथा दृढ़ता

महात्मा के शारीरिक बल अथवा उनकी नेतागिरी का बल नहीं, वह उसी आत्मा की दुर्जेय की शक्ति है जिसकी अभिव्यक्ति साहित्य में होती है। आज का अपने को प्रगतिशील या समाजवादी कहने वाला कौन साहित्यिक उनकी महानता को स्वीकार नहीं करता ! कविवर पन्त की बापू शीर्षक कविताएँ इस आदर्श की महान मान्यताएँ हैं। मनुष्य को इतिहास से अवश्य ही लाभ उठाना चाहिये और इतिहास की ओर दृष्टिपात करने से हम सरलता से यह जान सकते हैं कि पार्थिव तथा शारीरिक आवेगों को लेकर संसार में कभी भी महान कार्य नहीं हुये। ऐसे कार्यों की महानता चाहे ऐतिहासिक महत्व भले ही रखे परन्तु मानवता के आदर्शों का उससे कभी कोई भला नहीं होता। आज विज्ञान का युग है। हम सब उसकी तीव्रता का आये दिनों अनुभव करते रहते हैं किन्तु मानवता का वह भी चरम विकास नहीं है। नीति की परिवर्तित प्रणाली भी हम देख चुके हैं उसने आज तक एक भी ऐसा आधार निर्धारित नहीं किया जो सर्वमान्य तथा कल्याणमय हो। यदि विश्व के ज्ञानकोष में कुछ स्थायी है तो वह है अध्यात्म विकास की प्रतीति। क्या हर तरह से पीड़ित भारत उसे भी खो देगा ? आज साहित्य को जीवन के परिवर्तित स्थूल सत्य से तौलने की बात का हम क्या अर्थ लगावें ? सोचना यह है कि यदि साहित्य का सृजन तथा उसकी उपयोगिता हमारे पार्थिव-वैभव को ही लेकर होती तो आज हम अपने साहित्य में तुलसी, सूर तथा कबीर को कहाँ पाते ? उनके साहित्य ने तो आज की भाँति 'किं कर्तव्य विमूढ़' भारतीय जनता को आत्मिक उद्बोधना द्वारा ही एक सत्मार्ग का प्रदर्शन किया था जिसके लिये हम आज भी उनके कृतज्ञ हैं। वास्तव में साहित्य का उद्देश्य जीवन

की कुरूपता तथा सुन्दरता, सबलता तथा अबलता और एकता तथा अनेकता का समन्वयात्मक स्वरूप संसार में उपस्थित करना है। उसकी सफलता जीवन में निहित व्यापक सत्य की बोधगम्यता को स्पष्ट करने में है नकि किसी सामयिक सामाजिक प्रतिशोध में। यह हम भी मानते हैं कि कला तथा साहित्य का हमारे भौतिक जीवन से भी सम्बन्ध है किन्तु मूर्त से अमूर्त, स्थूल से सूक्ष्म तथा रूप से अरूप की ओर भी तो हम अपने इसी भौतिक सत्ता के सहारे बढ़ सकते हैं. साहित्य इसी साधना को सुगम करता है। यही कारण है कि जीवन के सुन्दरतम उच्च आदर्श सभी कलाकारों की कृतियाँ हैं। उदाहरण के लिये - विज्ञान से प्रकृति के रहस्य स्पष्ट होते हैं और साहित्य से भी। विज्ञान की स्पष्टता, भावना की सजलता के बिना रूखी सूखी और नीरस होती है, नियमों की मान्यता के कारण उसके परिवर्तित और विस्मृत होने की भी आशंका रहती है किन्तु साहित्य का भावनात्मक स्पष्टीकरण नित-नव नवीन सा रहता है। शायद इसीलिये हम न्यूटन को कम और मिल्टन को अधिक जानते हैं। साहित्यकार जीवन की प्रियतम तथा उच्चतम एवं शाश्वत भावनाओं को अपनी साधना से साकार करता है और फिर जीवन को उसी में प्रतिफलित कर देता है क्योंकि कार्य सदैव भावना के पीछे प्रतिपादित होते हैं।

जीवन की सारी विफलताओं तथा विपन्नताओं में भी मानव आत्मा सत्य, शिव एवं सुन्दर की खोज में व्यस्त रहती है और इस आकुलता का उद्देश्य किसी उपयोगिता की संकीर्णता में नहीं है वरन् यह तो आत्मा के अस्तित्व की स्वाभाविकता मात्र है। संसार के सारे संघर्ष प्राणी मात्र की सर्व-व्यापी तथा सर्वज्ञ होने की इच्छा को लेकर चलते हैं। साहित्य भी

उसके आत्म-दर्शन की आकुलता का ही फल है। वास्तव में मानव-हृदय की सुख दुख, आनन्द-शोक, विरह-मिलन तथा रूप-कुरूप की प्रवृत्तियाँ एवं भावनाएँ ही साहित्य का मूलाधार हैं किन्तु साहित्यकार अपनी इन भावनाओं को सम्पूर्ण सृष्टि प्रकृति में मिला देता है और यही उसका अपना विशेष व्यक्तित्व बन जाता है। प्राचीन युग से लेकर आज तक का साहित्यकार विश्व प्रकृति के अनेक सौन्दर्य-रूपों से आकर्षित-विकर्षित तथा संघर्षित-सम्बन्धित होकर उसमें केवल आत्म-दर्शन करता है। आज के सम्वेदन शील मानवता के महान उद्धारक महात्मा का भी यही ध्येय है। अपने व्यक्तित्व प्रधानता का भी उपयोग इसी आत्म दर्शन की परिपुष्ट करता है। हमारे यहाँ के महर्षियों ने कला को भी व्यक्तिवादी बताया है। यद्यपि साहित्यकार अपनी एकान्त साधना को संसार में समाहित कर देता है, आत्म-समर्पण कर देता है किन्तु केवल आत्म-प्राप्ति के लिये, संसार को अपने में समेट लेने के लिये। अपने बाह्य तथा आन्तरिक संघर्षों के बीच में वह एक समन्वयात्मक जीवन स्वीकार कर लेता है, क्योंकि कलाकार भी तो जीवन में ही जन्म लेता है, अपने आस-पास की परिस्थितियों में पलता है किन्तु उसकी विशेषता यही है कि वह उस क्षुद्र तथा सीमित सामयिकता के ऊपर उठकर अपने व्यक्तित्व का निर्माण करता है। इस स्थिति में पहुँचकर उसकी अनुभूति महान हो पाती है, तभी तो वह विश्वानुभूति का प्रतिनिधित्व करने लगता है। उसके अपने अनुभव तथा चिंतन के निष्कर्ष स्वयं सिद्ध और सबके अपने होते हैं क्योंकि आत्मानुभूति की यह अभिव्यक्ति मानव मात्र की सम्पति होती है। तब फिर साहित्य को वर्ग, दल, श्रेणी तथा शैली आदि की

कड़ी कारा में क्यों बन्द किया जाय ? युगों की सनातनता से सम्बन्धित शक्ति को सीमित क्यों किया जाय ? इसका एक कारण समझ में आता है। उपयोगिता की परिभाषा को लेकर ही शायद यह विवाद न चल पड़ा हो ? किसी भी वस्तु को हम दो प्रकार से उपयोगी कह सकते हैं। इसका निर्देश ऊपर किया जा चुका है। किसी पुष्प की सुन्दरता, कमनीयता से हमारा मन बहुत प्रसन्न होता है, आनन्द की उपलब्धि होती है और उससे हमें एक प्रकार की आन्तरिक तृप्ति मिलती है। यह भी उपयोगिता का एक प्रकार है। एक सुन्दर स्वस्थ घोड़ा जिससे हमारा चढ़ने का काम बनता है। हमारे लिये उपयोगी है। सारे संसार की भिन्न-भिन्न वस्तुएँ मनुष्य के इन्हीं दोनों प्रकार की उपयोगिताओं की पूर्ति करती हैं। इनमें से किसी एक को भी अनुपयोगी या अनावश्यक नहीं कहा जा सकता है। अब केवल निश्चय यह करना है कि साहित्य हमारे किस उपयोगिता पूर्ति के लिये हो ? इसके लिये श्रेष्ठ साहित्यिक विश्व-कवि रवीन्द्र के नीचे लिखे शब्द हमें याद रखना चाहिये।

"पाश्चात्य समालोचकों के एक विवादी दल को काव्योपयोग शब्द असह्य हो उठा है। मेरी समझ में यह प्योरटेनिक के त्याग-मय आदर्श का प्रत्यावर्तन मात्र है। उस त्यागमय युग में किसी वस्तु का निरा उपयोग पापमय माना जाता था। किन्तु याद रखना चाहिये कि प्योरिटनिज्म एक प्रतिक्रिया थी। जिसमें साधारणतः सत्य का अंश नहीं है। उपभोग जब जीवन से सीधा सम्बन्ध न रखकर अपने कृत्रिम संसार में भटकने लगता है, विलासिता के बाहुल्य में उच्छृङ्खल हो उठता है, तब त्याग की पुकार सुन पड़ती है। यह त्याग उपयोग को विषम जाल समझ कर उससे

सदैव बचने की चेष्टा करता है" इस प्रकार हमें साहित्य का उद्देश्य साहित्य में ही समझना चाहिये। उपयोगिता की सीमा-रेखा में नहीं। साहित्य तथा कला सम्बन्धी शाश्वत कालीन तत्वोंको सामयिक आवश्यकता की संकुचित सीमा में घसीटने का प्रयत्न फ्रान्स की राज्य क्रान्ति-काल में भी हुआ था। सभी लोग साहित्य को राजनीति का एक उपयोगी अंग बनाना चाहते थे किन्तु यह भावना क्षणिक उत्तेजना के साथ ही, विलीन हो गई, और उच्चतम साहित्य का सृजन होने लगा। इसी प्रकार के अनेक प्रयत्न इस ओर हुये हैं किन्तु साहित्य अपनी सत् प्रवृत्तियों में सनातन है। वह कभी भी राजनीत की सामूहिक हुल्लड़ का लद्दू टट्टू नहीं बन सकता। यों तो मनुष्य तथा पशु दोनों को अपने भावों के व्यक्त करने की आवश्यकता पड़ती है किन्तु पशुओं का भाव प्रदर्शन उनकी आवश्यकता विशेष से बाहर नहीं जा सकता। मनुष्य के भाव आवश्यकता से ऊपर उठकर मूल प्रयोजन से परे भी अपना अस्तित्व रखते हैं। टाल्स्टाय के शब्दों में—"कला समभाव के प्रचार द्वारा विश्व को एक करने का साधन है"। शरीर की भिन्नता, रंग की भिन्नता, देशकाल तथा परिस्थितियों की भिन्नता के कारण इस 'समभाव' का उपयोग हमारी राजनीति-लोक में नहीं केवल आत्मा-लोक में सम्भव है। शायद इसीलिये जब मनुष्य का ज्ञान, तर्क और सिद्धान्त काम नहीं देता, तब रेखा, रंग अथवा शब्द द्वारा उसके मन में भाव की एक लहर उठाई जाती है। कला की यही उपयोगिता है।

अस्तु साहित्य की महत्ता मानव मन की प्रवृत्तियों की सरस और रागात्मक अभिव्यक्ति में है। इसी आदर्श को सामने रख कर हमें साहित्य

की चर्चा करना चाहिये। सम्पूर्ण साहित्य, विशेषकर काव्य तो इस आदर्श का अचल प्रतीक है। उसमें सिद्धान्तों की पद्य बद्धता, वस्तुओं की बौद्धिक प्रतिपादना एवं राजनीति की प्रभात फेरियों तथा अर्थशास्त्र के आयात-निर्यात नियमों की विवेचना की कोई जगह नहीं है। उसमें तो केवल शाश्वत जीवन की अनुभूतिमयी अभिव्यक्ति की अधिष्ठापना हो सकती है। मानवीय आत्मा के महत्तम विकास की ओर उन्मुख होकर, भावों द्वारा सुन्दरता की शरण में होकर जिन जिन स्वरूपों का व्यक्तीकरण किया जावेगा, केवल वही रस-सिद्ध भाव साहित्य की संज्ञा अनादि काल से पाते रहे हैं और पाते रहेंगे।

अन्त में कवि के शब्दों में ही हम इसे समाप्त करेंगे—

जग बदलेगा, किन्तु न जीवन!
क्या न करेंगे उर में क्रन्दन
मरण-जन्म के प्रश्न चिरन्तन,
हल कर लेंगे जब रोटी का मसला जगती के नेता गण?
प्रणय स्वप्न की चंचलता पर
जो रोयेंगे सिर धुन-धुन कर,
नेताओं के तर्क बचन क्या उनको दे देंगे आश्वासन?
मानव भाग्य पटल पर अंकित
न्याय नियति का जो चिर निश्चित,
धो पायेंगे उसे तनिक भी नेताओं के आँसू के कण?
जग बदलेगा, किन्तु न जीवन।

छायावाद

साहित्य, विशेष कर काव्य किसी भी 'वाद' की कठिन कारा में बन्द नहीं किया जा सकता, क्योंकि कारा में कैद साहित्य अपनी व्यापकता से परे एक पक्ष विशेष की भावना का ही प्रतीक होगा। साहित्य पक्ष तथा निष्पक्ष दोनों के ऊपर की वस्तु है। हाँ प्रत्येक युग में कुछ अपनी ऐसी साहित्यिक विशेषताएँ अवश्य रहती हैं जो उसे अन्य सभी युगों से अलग करने में सहायक सिद्ध होती हैं। ये विशेषताएँ कई प्रकार की हो सकती हैं यथा, भावों की, विचारों की, आदर्शों की तथा प्रतीकों एवं उद्देशों की।

अस्तु वर्तमान खड़ी बोली के स्वच्छन्द छन्दों से आच्छादित अनुभूत काव्य का नाम यदि छायावाद पड़ा तो इसमें आश्चर्य नहीं। यद्यपि छायावाद, अपनी काव्यगत इन्हीं प्रवृत्तियों के साथ, दूसरे नाम से तथा रहस्यवाद इसी नाम से उतने ही प्राचीन हैं जितना प्राचीन काव्य, तथापि इस नाम का नये रूप से, नये वातावरण में प्रचार एवं प्रसार होने से इसके साथ नूतनता का समावेश तथा साहचर्य-सा हो गया है। इस काव्य की मनोवृत्तियों तथा इसकी देन एवं इसकी उद्भावना पर हमें यहाँ विचार करना है।

जब हम मानवीय प्रकृति के क्रमिक विकास पर विचार करते हैं तब

हम इस बात को सहज ही में समझ लेते हैं कि हमारी दार्शनिक भावना-पूर्ण चेतना अपेक्षाकृत बाद की उपज है। मनुष्य पहिले धार्मिक तथा बाद में दार्शनिक बनता है। विश्व के आदिम निवासियों के अन्तःकरण में जब इस प्रकृति के विषय की उत्सुकता तथा आश्चर्य ने अपना घर बनाया तब उनकी धार्मिक प्रवृत्ति सहसा प्रकृति-वाह्य वस्तुओं के प्रति पूर्णतया जग उठी किन्तु जब मनुष्य धीरे-धीरे एक स्वतंत्र वातावरण बनाकर विश्राम से रहने लगा तब उसके अवकाश के अनुकूल मन में एक ज्ञान की पिपासा जागृत हुई और उसकी विचार-धारा एक गम्भीर-विवेचना की ओर मुड़ी, यही मानव की दार्शनिक-विचार पद्धति कहलायी।

भारत तथा संसार के साहित्यिक इतिहास का भी यही चिंतन क्रम रहा है—एक बार जब दूर के अतीत वैदिक-काल में स्थूल कर्मकाण्ड की सत्ता ने सारे देश को अपने में समाहित सा कर लिया था तब उसके बाद शीघ्र ही आत्मज्ञान का आविर्भाव हुआ। भगवान बुद्ध के सिद्धान्तों ने जब तांत्रिक स्थूलता ग्रहण की तब उसके विरोध में भी आन्दोलन उठा जिसके द्वारा स्थूलता का आवरण छिन्न भिन्न करके सूक्ष्म की स्थापना की गई। वास्तव में जब मनुष्य अपने आस-पास के स्थूल-जीवन संघर्ष से दब जाता है तब उसकी प्रवृत्तियाँ प्रायः क्रान्ति की ओर ही अग्रसर होती हैं। इसी को हम साहित्यिक भाषा में स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह कहते हैं। इस अवस्था में मनुष्य अपनी सामयिक संकीर्णता को भूलकर अपनी सनातन सत्ता के आधार आत्म-भावों के द्वारा अपना विस्तार करता है, इस संसार के चारों ओर एक नये संसार की सृष्टि

करता है। यह संसार ऐसे ही असंख्य मनुष्यों का निवास-क्षेत्र है। इसी कारण इसमें समय-समय पर सामाजिक, राजनीतिक एवं साहित्यिक क्रान्तियाँ होती रहती हैं। संसार-साहित्य के क्रमिक उत्थान-पतन का यही रहस्य है, क्योंकि मानवीय-शरीर का केवल वाह्य अंश उसे पूर्ण नहीं बना पाता वरन् उसके हृदय, मस्तिष्क आदि अनेक छिपे अंग मिलकर उसे पूर्ण बनाते हैं। मनुष्य का यह पार्थिव-जीवन जो हमारे सामने है बहुत सीमित है उसके पूर्ण तथा व्यापक-जीवन को जानने के लिये उसके आन्तरिक-जीवन को भी जानना आवश्यक है। मनुष्य में इन्हीं दोनों जीवनों का संघर्ष उसके सभी क्षेत्रों में पाया जाता है। आदि काल से आज तक साहित्य-क्षेत्र में भी यह आवश्यक संघर्ष अपनी पुनरावृति करता चला आया है। यद्यपि एक युग की परिस्थितियाँ तथा उसके आदर्श दूसरे युग में ठीक उसी तरह नहीं लौटते फिर भी उनकी आत्मा की समता एक नये आवरण में अमर रहती है। जब देश स्वतंत्र था, आवश्यकताएँ कम थीं, निर्वाह के लिये प्राकृतिक-साहाय्य की आवश्यकता थी तब प्रकृति पूजा ही हमारा काव्य रहा। जब सुविधाओं की सावधानी हुई तब काव्य का रुख दार्शनिकता की ओर मुड़ा, उसकी वाह्य प्रवृतियाँ जैसे अन्तरमुखी होने को आकुल-व्याकुल हो उठीं। इसी प्रकार जब शत्रु सामने आये तब निष्ठुरता तथा रौद्रता ही काव्य का आधार बनी, पराजय के पश्चात् हताश जाति की जीवन रक्षा का भार लेकर भक्ति-काव्य आया। भक्ति-काव्य की ओट में विलासिता शरीर के पीछे छाया की भाँति लगी रही। इस प्रकार सामयिक परिस्थितियों के अनुसार हमारे काव्य में भी परिवर्तन होते आये हैं किन्तु उन सभी काव्यों में

उनके युगों की भावना की अमिट छाप है। हमारा वर्तमान युग भी पराजित, पराधीन और निराश है, अस्तु इसकी काव्य-कला भी अपनी युग-भावना के अनुकूल अपनी विशेषताओं में सप्राण है।

यद्यपि मनुष्य प्रकृति से ही शान्ति-प्रिय है किन्तु प्रकृति से ही वह इतना सीमित भी है कि उसे शान्ति मिल ही नहीं पाती। उसकी भौतिकता, उसकी काल्पनिकता तथा आध्यात्मिकता का प्रत्येक क्षण पीछे किये रहती हैं। यही उसका जीवन संघर्ष है यही साहित्यिक। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध काल में श्री भारतेन्दु ने हिन्दी साहित्य में एक क्रान्ति मचायी थी क्योंकि रीति काल में हमारा साहित्य स्थिर, संकीर्ण और जीवन रहित हो गया था। सभी कवि शास्त्रीय लकीर के फकीर बन कर नवीनता और व्यक्तिगत भावों की व्यंजना भूल से गये थे। एक ही भाव, एक ही छन्द और अलंकारों के पीछे पड़कर कवियों ने काव्य को नीरस और आकर्षण-रहित बना दिया था। काव्य की सीमा बहुत ही संकुचित कर दी गई थी। काव्य का जीवन से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रह गया था। इन सब रूढियों के विरूद्ध भारतेन्दु ने एक विद्रोह खड़ा किया और हिन्दी साहित्य को एक नव-युग का प्राण दिया। उनके पावन प्रयत्नों की पयस्विनी द्विवेदी-युग में आकर विशेष व्यापक एवं विस्तृत हो गई। काव्य की परम्परा प्रभूत सभी सत्तायें कँपने सी लगीं और उसके अन्तरात्मक एवं विचरात्मक भावनाओं में भी एक परिवर्तन हो चला। रीति कालीन काव्य-उद्देश्य, नायक नायिकाओं के भेद-विभेद, एवं यौवन-काल में प्रविष्ट नारी की भाव-स्थिति तथा उसकी विभिन्न अवस्थाएँ, विरहिणी की शारीरिक-वेदना की व्याकुल व्यंजनाएँ आदि

फीकी सी पड़ने लगीं। कविता हमारे आस-पास के संसार की इति-वृत्तात्मकता को न छूकर उसकी जीवन-स्पर्शिता को ग्रहण करने लगी, कवि स्वयं अपनी सत्ता और वस्तु सत्ता की संयोग-साधना में लीन हो गया और अपनी आत्मा के गम्भीरतम स्थल में अपने अन्तर्जगत के संगीत सुनने सुनाने लगा। इस परिवर्तन के रहस्य तथा कारण भी हैं। प्राचीन युग का मनुष्य अपनी सभी व्यवस्थाओं के लिये एक बार पीछे मुड़कर देखा करता था। उसका विश्वास था कि जो कुछ श्रेय तथा प्रेय है वह सब कुछ वर्णित और निश्चित है, मनुष्य कुछ नया नहीं कह सकता वह केवल प्राचीन ज्ञान को अपनी व्यक्तिगत साधना से प्रत्यक्ष कर सकता है; किन्तु आज का मानव नित्य नूतनता की खोज में रहता है इस कारण उसे अपनी सीमाएँ प्रत्येक क्षण बनाते बिगाड़ते रहना पड़ता है। प्राचीन मनुष्य साधक थे अर्वाचीन विचारक। वह साधना का युग था यह नव-निर्माण का। उस युग का उत्तरदायित्व केवल महामानव पर था अब मानव पर भी। समाज के समान साहित्य में भी इसी वैयक्तिक प्राधान्य की विशेषता आज दिखलाई पड़ती है। ठीक भी है क्योंकि कवि के आत्म-दर्शन की आकुल अभिलाषा ही उसके काव्य का कारण है, इसीलिये प्राचीन आचार्यों ने काव्य को आत्म-दर्शन की साधना माना है, वास्तव में काव्य आत्म मंथन, आत्म चिंतन, आत्मालोचन तथा आत्म-विश्लेषण का ही सुफल है। उसके अपने अनुभव तथा चिंतन स्वयं सत्य तथा स्वयं सिद्ध और सब के अपने होते हैं क्योंकि संसार के सारे द्वन्द, सारे संघर्ष, सारे आन्दोलन तथा सारे आदान-प्रदान अपने (व्यक्ति) को लेकर चलते हैं, उनका सब

का अस्तित्व हम केवल अपने को केन्द्र मानकर ही अनुभव करते हैं। अपने को भुलाकर हम संसार को नहीं पा सकते। इसके अलावा प्राचीन साहित्यिक मनोवैज्ञानिक सत्य के नाम पर कभी परम्परा की मर्यादा पर अविश्वास नहीं करते थे, इसलिये उनके मन में कभी असंतोष का उदय नहीं होता था किन्तु आज का साहित्यिक सृष्टि तथा समाज की व्यवस्था से संतुष्ट नहीं है। उसके मन में असंतोष के बीज रूप में विद्रोह का वट-वृक्ष पड़ा सोता है। यह असंतोष जीवन के सभी क्षेत्रों में व्याप्त है। भक्त कवि अपने विचारों के आधार-स्वरूप सीताराम तथा राधा-कृष्ण के नाम पर अपने मनोभावों की प्रतिष्ठा करते थे पर आज का कवि परमात्मा के विषय में भी लिखते समय पुरातन रूढ़िमय शब्दों तथा ईश्वर-विषयक सम्बोधनों का उपयोग नहीं करता। आज हम उसे भी अनेक मानवीय सम्बन्धों में समेट लेना चाहते हैं। इस प्रकार हमारा प्राचीन रहस्यमय का ज्ञान आज रहस्यमय सम्बन्ध में परिणत हो गया है, अस्तु हमारे नये अभाव नये उपादान भी चाहते हैं। इस वैज्ञानिक उन्नति के साथ हमारी व्यक्तिगत सम्भावनाएँ भी उन्नत हो गई हैं। शान्ति के नाम पर नित नये नरमेधों ने हमें त्रस्त कर दिया है। ऐसी स्थिति में इसकी प्रतिक्रिया अनिवार्य हो उठी है क्योंकि प्रतिक्रिया तो जीवन का मार्मिक तत्व है। आधुनिक काव्य-काल रीति कालीन काव्य की प्रतिक्रिया मात्र है। समय की आवश्यकता ही किसी वस्तु विशेष को जन्म देती है। आधुनिक काल अपनी नवीन विद्रोहात्मक भावनाओं को लेकर आगे बढ़ा—भावों की विविधता, निर्लिप्ति की पुनरावृत्ति, व्यक्तित्व की प्रधानता, विचारों का परिवर्धन, विश्वजनीन दृष्टिकोण,

जीवन-व्यापी असंतोष, शरीर की अपेक्षा आत्मा की मान्यता तथा विश्व-वैचित्र्य की रहस्यात्मकता आदि इस धारा की विशेषताएँ हैं। इन विशेषताओं की स्वाभाविक रूझान स्वच्छन्दता, कल्पना और चापल्य की ओर होती है।

काव्य की ऐसी स्थिति तथा परिस्थिति में मानव के मन में एक ऐसे संसार की आकाँक्षा उठती है जो अस्पष्ट, अलौकिक तथा आनंदमय है, इसी आकुल आकाँक्षा की अधिकतर अभिव्यक्ति हमारी नवीन काव्य धारा में मिलेगी।

छायावाद—छायावाद नाम से ही उसकी छायात्मकता स्पष्ट है। विश्व की किसी वस्तु में एक अज्ञात सप्राण छाया की झाँकी पाना अथवा उसका आरोप करना ही छायावाद है। छायावादी कवि प्रकृति के पुजारी की भाँति विश्व के कण-कण में अपने सर्व व्यापक प्राणों की छाया देखता है। मनुष्य को वाह्य सौन्दर्य से हटाकर उसे प्रकृति के साथ अविछिन्न सम्बन्ध स्थापित कराने का कार्य इसी काव्य धारा ने किया है। शुभ श्री महादेवी जी वर्मा के शब्दों में "छायावाद ने मनुष्य के हृदय और प्रकृति के उस सम्बन्ध में प्राण डाल दिये जो प्राचीन काल से विम्ब-प्रतिविम्ब के रूप में चला आ रहा था और जिसके कारण मनुष्य को अपने दुःख में प्रकृति उदास और सुख में पुलकित जान पड़ती थी। छायावाद की प्रकृति घट, कूप आदि में भरे जल की एक रूपता के समान अनेक रूपों में प्रकट एक महाप्राण बन गई अतः अब मनुष्य के अश्रु, मेघ के जलकण, और पृथ्वी के ओस विन्दुओं का एक ही कारण एक ही मूल्य है"। छायावाद में रोमान्टि-

सिज्म की भाँति कलाकार का कला से अधिक महत्व माना गया है, क्योंकि कला में कलाकार के भावात्मक व्यक्तित्व की छाप अवश्य रहती है। छायावादी कवि का मुख्य-उद्देश्य असाधारण भावावेश को व्यक्त करना है। यह कोई नयी बात नहीं है, प्रायः प्रत्येक युग में अनन्त प्रकृति के बीच विषमता को देखकर भावुक लोगों ने ऐसी अभिव्यक्तियों की शरण ली है। छायावाद की प्रथम अवस्था में सृष्टि के प्रति विस्मय का भाव अपने सन्देह में सजग रहता है। दूसरी अवस्था में मानसिक अशान्ति की आकुलता का आभास मिलता है, उस समय कलाकार कुछ खो सा जाता है। तीसरी अवस्था उसकी सफलता की सोपान है क्योंकि यहाँ उसको अपने प्रेम का प्रकाश प्राप्त हो जाता है और वह संतोष से अपने आप में अपने को लीन कर लेता है। यही छायावाद की चरम परिणति है। यहाँ पहुँचकर छायावादी उसी ध्येय को प्राप्त करता है जिसे दार्शनिक एवं रहस्यवादी। इन उपर्युक्त विश्लेषणों से कह सकते हैं कि जिस समय प्रथम मानव ने कल-कल करती हुई निर्भरणी में अपने ही प्राणों जैसी कोई प्राण छाया देखी, उसी समय छायावाद की भावानुभूति उसके हृदय में उदित हुई। जिस समय क्रौञ्च पत्नी की मर्म वेदना का आघात आदि कवि वाल्मीकि को बेसुध कर गया, जिस समय उनके हृदय की समवेदना तथा करुणा प्रथम श्लोक के रूप में मुखरित हो उठी उसी समय छायावाद की आत्मा सिहर उठी थी। वास्तव में करुणा हमारे विकास का साधन है, शायद यही कारण है कि प्राचीन युग इतना करुण नहीं था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि छायावाद वर्तमान युग की भावनाओं

का एक प्रतिबिंबित और प्रतिमूर्त रूप है, सहस्रमुखी काव्यगत भावनाओं का एक समन्वयात्मक नाम है। इसमें हमारी मन्द मुस्कान है, करुण आँसू की धारा है, चंचलता है, आशा की इन्द्रधनुषी रंगमयता है, निराशा की आकुल घटाएँ हैं। भावनाएँ कहीं मध्यान्ह की रवि-किरण की भाँति स्पष्ट, कहीं दूर क्षितिज की भाँति धुँधली तथा कहीं महाकाल की कल्पना के समान काली और अंधकारमय हैं; अभिव्यक्ति के इस प्रकार का भी एक रहस्य है। मानव ज्ञान अपनी सारी सत्ताओं में सीमित तथा अपूर्ण है, इसी ज्ञान के सहारे वह उस गूढ़ आध्यात्मिक सत्ता का स्पर्श करना चाहता है, उस दूरस्थ उलझन को सुलझाना चाहता है इसीलिये वह अस्पष्ट सा, विफल सा जान पड़ता है किन्तु फिर भी हमें उसकी आंशिक सफलता पर सन्देह नहीं है। कली में, खिले फूल से अधिक आकर्षण क्यों होता है? चूंकि उत्फुल्लता अधिक स्पष्ट तथा कली का अनन्त भविष्य अस्पष्ट है। जहाँ हमारी भाषा काम नहीं देती वहाँ भी हमारी आँखें अपनी नीरव वाणी से कुछ कह देती हैं, कहीं यह भी स्थिति आजाती है—गिरा अनयन नयन बिनु बानी। सत्य जब अस्पष्ट रहता है, छायामय रहता है तब वह अधिक प्रभाव पूर्ण एवं आकर्षक प्रतीत होता है। कविवर वर्डसवर्थ की कोकिल का महत्व इसी में निहित है कि वह स्वयं विलीन रहकर अपनी सारी शारीरिक कुरूपता छिपाये रहती है किन्तु हमें अपना सारा परिचय एक मधुर गान के रूप में देती है, वह केवल एक मधुर गान मात्र है।

इधर छायावाद के अनेक अर्थ लोगों ने अपनी-अपनी विचार धारा के अनुसार लगाया है, उनमें से कुछ बहुत ही भ्रमात्मक हैं। मेरा

विश्वास है कि जिस मानवेतर आध्यात्मिक तत्व का निरूपण शब्दों की संकुचित सीमा में सम्भव नहीं है, उसकी सर्व-व्याप्त छाया को प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूपों में ग्रहण कर, उसके अव्यक्त व्यक्तित्व का आरोप कर, यदि उस पूर्ण तत्व के प्रकाशन का प्रयास किया जाय तो वही छायावाद होगा। परमात्मा की सत्ता संसार की वस्तु मात्र में प्रतिबिंबित है। इसी आधार पर हम उसके अचिंतनीय तथा अव्यक्त स्वरूप का चिंतन, आराधन कर सकते हैं। आँखों के सामने विस्तृत सा आकाश शून्य के सिवा क्या है, पर हम उसके नीले रंग तथा उसकी छाया का आभास जल में पाते हैं यही उसकी सरूप सत्ता है। उस अव्यक्त तथा अस्पष्ट सत्ता की खोज मानव प्रकृति का एक अनिवार्य स्वरूप है। इस चेष्टा की काव्यमय भावना ही छायावाद है। उदाहरण के लिये प्रकृति में प्रेयसी का आरोप अनादि काल से होता आया है, मानव और मानवेतर जीवन में तादात्म्य भावना की कल्पना भी बहुत पुरानी है वही आज भी हम अपने काव्य में पाते हैं किन्तु यह आरोप भी दो प्रकार का होता है। प्रकृति के किसी अंश को एक पार्थिव व्यक्तित्व देना तथा प्रकृति के किसी अंश में एक व्यापक व्यक्तित्व का आरोप। प्रथम श्रेणी की कविता वस्तुवाद की सीमा से सीमित होगी उससे हमें पार्थिव स्थूलता मात्र की उपमा मिलेगी यथा—

कलिका को सम्बोधित करके कवि कहता है—

री सजनि बनराजिकी शृंगार !
मुग्ध मस्तों के हृदय के मुंदे तत्व अगाध,
चपल अलि की परम संचित गूंजने की साध,

बाग़ की बाग़ी हवा की मानिनी खिलवाड़,
पहन कर तेरा मुकुट इठला रहा है झाड़ !
खोल मत निज पंखड़ियों का द्वार,
री सजनि बनराजि की शृंगार !
आगया वह वायु-वाही मित्र का नव राग,
बुलबुले गाने लगी है जाग प्यारी जाग !
प्रेम प्यासे गीत गढ़ तेरा सराहें त्याग !
रागियों का प्राण है तेरा अतुल अनुराग,
परन बनदेवी, न संपुट खोल, तू मत जाग,
विश्व के बाज़ार में मत बेंच मधुर पराग !

इन पंक्तियों में कलिका को एक सजनि का व्यक्तित्व दिया गया है पर वह स्थूल है, सीमित है तथा मानवीय है। यह कविता वस्तुवाद की है। नीचे की कविता में भी वस्तुवाद का स्पष्ट चित्रण है इस 'प्रिये' में व्यापकता एवं रहस्यमयता नहीं—

मंजरित आम्रवन छाया में
हम प्रिये मिले थे प्रथम बार,
ऊपर हरीतिमा नभ गुंजित
नीचे चन्द्रातप छना स्फार !
तुम मुग्धा थीं अति भाव-प्रवण,
× × ×
चंचल प्रगल्भ, हँसमुख, उदार,
मैं सलज, तुम्हें था रहा खोज !

एक और वस्तुवाद की कविता का बहुत सुन्दर उदाहरण दिया जाता है यद्यपि इसमें एक अपरिचित अकिञ्चन का चित्रण है पर वह अपनी सीमा के भीतर है कुछ परिचित अपरिचित सा। यथा—

उस दिन जब जीवन के पथ में,
छिन्न पात्र ले कम्पित कर में,
मधु भिक्षा की रटन अधर में
इस अनजाने निकट नगर में,
आ पहुँचा था एक अकिञ्चन।

इस तरह के सभी व्यक्तित्व आरोपण की तथा चित्रण की कविताओं को हम छायावाद की संज्ञा नहीं दे सकते क्योंकि यह तो केवल वस्तुवाद है ऐसे काव्य में वस्तु की स्थूलता की अधिष्ठापना रहती है। इस प्रकार के बहुत से चित्रण हमें प्राचीन-काव्य में भी मिलते हैं, क्योंकि प्रकृति में मानवीय भावों का आरोप बहुत पुराना है। सूर का बाल-वर्णन, तुलसी का ऋतु वर्णन विद्यापति का मालती और भँवर को लेकर उनमें प्रियतम प्रेयसि का व्यक्तित्व निरूपण ये सभी वस्तुवाद की रचनायें हैं। इनका आधार स्थूल एवं सीमित है। इसका यह अर्थ नहीं कि हमारे प्राचीन साहित्य में छायावादी काव्य का अभाव है। वेदों के द्वारा दिया गया ऊषा तथा सन्ध्या का व्यक्तित्व सूक्ष्म एवं व्यापक है उसे हम छायावाद के रूप में ग्रहण कर सकते हैं। वस्तुवाद की स्थूलता छायावाद में सूक्ष्म हो जाती है, वस्तु-भेद की कृत्रिमता अभेद की प्राकृतिकता में परिणत हो जाती है, व्यापक व्यञ्जना और सूक्ष्म कल्पना तथा आध्यात्मिक ध्वनि के प्राधान्य के बल से छायावाद

वस्तु-विशेष की सीमा पार कर जाता है। विशुद्ध छायावाद के उदाहरण ये हैं—

तारकमय नव वेणी बंधन,
शीश फूल कर शशि का नूतन,
रश्मि-वलय सित घन-अवगुंठन,
मुक्ताहल अभिराम बिछा दे चितवन से अपन !
पुलकती आ वसंत रजनी !

यद्यपि इन पंक्तियों में उन्हीं आभरणों का आभास मिलता है जो एक पार्थिव रमणी धारण करती है परन्तु रजनी का यह चेतन व्यक्तित्व व्यापक है उसमें किसी संसारी नारी की सीमा नहीं है, क्योंकि चित्रण तो लौकिक रूपकों द्वारा ही संभव है पर वह सूक्ष्म चेतनता पुलकित होना चाहिये। और भी—

अब जागो जीवन के प्रभात !
वसुधा पर ओस बने बिखरे
हिमकन आँसू जो क्षोभ भरे
ऊषा बटोरती अरुण गात !
अब जागो जीवन के प्रभात !
तम नयनों की तारायें सब—
मुँद रही किरण-दल में हैं अब
चल रहा सुखद यह मलय वात !
अब जागो जीवन के प्रभात !
रजनी की लाज समेटो तो

कलरव से उठकर भेटो तो
अरुणाँचल में चल रही बात !
जागो अब जीवन के प्रभात !

इसमें प्रभात, ऊषा, रजनी को एक चेतन व्यक्तित्व दिया गया है। नीचे की पंक्तियों में प्रकृति को प्रेयसी के रूप में कवि वर्णन करता है किन्तु उसकी व्यापकता भी प्रकृति के अनुरूप है—

खैंच ऐंचीला-भ्रू-सुरचाप—
शैल की सुधि यों बारंबार—
हिला हरियाली का सुदुकूल-
झुला झरनों का झलमल हार;
जलद पट से दिखला मुख-चन्द
पलक पल-पल चपला के मार,
भग्न उर पर भूधर सा हाय !
सुमुखि धर देती है साकार !

इन पंक्तियों में प्रेयसी की सत्ता प्रकृति-सुन्दरी की व्यापक सत्ता में समाहित है, देखिये यह कविता—

चुभते ही तेरा अरुण बान।
बहते कन कन से फूट फूट,
मधु के निर्झर से सजल गान !
नव कुन्द-कुसुम से मेघ पुंज,
बन गये इन्द्रधनुषी वितान;
दे मृदु कलियों की चटक ताल,

हिम बिन्दु नचाती तरल प्राण;
धो स्वर्ण प्रात में तिमिर गात,
दुहराते अलि निश मूक तान!
सौरभ का फैला केश जाल,
करती समीर परियाँ विहार;
गीली केसर, मद झूम झूम,
पीते तितली के नव कुमार;
मर्मर का मधु संगीत छेड़—
देते हैं हिल पल्लव अजान!
फैला अपने मृदु स्वप्न पंख,
उड़ गयी नींद निशि क्षितिज पार;
अधखुले दृगों के कञ्ज-कोष—
पर छाया विस्मृति का खुमार
रँग रहा हृदय ले अश्रु हास,
यह चतुर चितेरा सुधि विहान!

यह कविता छायावाद का एक सुन्दर स्वरूप है इसमें रश्मि, निर्झर, हिमविन्दु, समीर, पल्लव, नीद, कंज तथा विहान को एक चेतन व्यक्तित्व दिया गया है; अस्तु यह प्रकृति के आंशिक रूपों में सूक्ष्म चेतन व्यक्तित्व की स्थापना छायावाद के प्राण बन कर प्राञ्जल श्री हो उठी है। इन उपर्युक्त उदाहरणों से हम सहज ही में वस्तुवाद तथा छायावाद की भिन्नता हृदयंगम कर सकते हैं।

छायावाद की परिभाषा तथा उदाहरणों से उसकी काव्य स्थिति

स्पष्ट हो चुकी है। अब हम उसकी भावना के मूल तत्वों का विश्लेषण वर्तमान काव्य के आधार पर कर सकते हैं। अँग्रेज़ी के रोमान्टिसिज्म की भाँत प्रायः छायावाद की भी अवतारणा हुई है इसी कारण वह हमारे साहित्य की एक नव जागृति का सन्देश अपने भीतर निहित किये हुए है जिसका आधार सौन्दर्य, विस्मय, अद्‌भुत, करुणा तथा प्रकृति-प्रेम है। नीचे हम इन पर विचार करेंगे।

आज का युग सन्देह का साथी है। वह परिस्थितियों के आघात से इतना शिथिल और दुर्बल हो गया है कि वह किसी भी कठिनाई का सामना नहीं कर पाता, वह युद्ध के पहिले ही उसकी भीषणता की कल्पना से पराजय स्वीकार कर लेने वाले सैनिक की भाँति है। पुराने विश्वासों पर आस्था, आदर्शों की मान्यता आज दकियानूसीपन माना जाने लगा है। फिर भी जीवन के लिये एक आधार की आवश्यकता तो अनिवार्य सी है। अपनी अपनी रुझान की अनुकूलता में लोगों ने, विशेष कर कवियों ने अपनी शरण खोज निकाली है। ये भावों के दुर्ग हैं।

सौन्दर्योपासना

यह कहा जा चुका है कि छायावादी कवि हमारे आस पास के संसार की इतिवृत्तात्मकता को न छूकर वह उसकी जीवन-स्पर्शिता को ग्रहण करता है क्योंकि इतिवृत्तात्मकता का सम्बन्ध स्थूल शरीर से है, वाह्य सौन्दर्य से है, आन्तरिक तथा सूक्ष्म से नहीं। वाह्य-सौन्दर्य-साधना वाला कवि एक फूल के सर्वांग का ही वर्णन करेगा किन्तु छायावादी कवि उस फूल के उस प्राणमय सूक्ष्म को अपनायेगा जिससे

वह एक स्वाभाविक आत्मीयता का अनुभव करता है। छायावादी कवि यथार्थ वस्तु का संसर्ग इन्द्रिय और चैतन्य से करने का प्रयत्न करता है। संसार का कण-कण इसी भावना के मधुर कोमल पाश में बँधा है, इसी रागिनी की स्वर लहरी कण-कण में व्याप्त है। आज का कवि विज्ञान की वाह्य-सौन्दर्य-साधना से युक्त मानव समाज को आन्तरिक जीवन की सौन्दर्य-साधना पर आरुढ़ करना चाहता है। वह अपनी ही अन्तरात्मा को प्रकृति के नाना रूप-रंगों में खोज कर निकाल लेता है, यहाँ पर उसकी सीमा कुछ संकुचित सी पड़ जाती है क्योंकि वह अपने आदर्श के अनुकूल ही रूपों का चुनाव कर सकता है—

जिसकी सुन्दर छवि ऊषा है
नव बसंत जिसका शृंगार,
तारे हार किरीट सूर्य शशि
मेघ केश स्नेहाश्रु तुषार,
मलयानिल मुख वास जलधि मन
लीला लहरों का संसार,
उस स्वरूप को तू भी अपनी मृदु बाहों में लिपटाले !

इस सौन्दर्य में एक काल्पनिक रंगीनता है क्योंकि सौन्दर्य-प्रेमी जल्दी से किसी वस्तु को उसके भौतिक रूप में नहीं देख पाता। वास्तव में सौन्दर्य बाहर की वस्तु नहीं है, यह मन के भीतर की वस्तु है। इसकी पूर्णता के लिये अंतस्सत्ता की तदाकार परिणति की आवश्यकता है। जिस वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से तदाकार परिणति जितनी ही अधिक होगी, उतनी ही वह वस्तु हमारे लिये अधिक सुन्दर कही

जायगी। सौन्दर्य काव्य का एक प्रधान उपकरण है किन्तु उसमें संघर्ष तथा कठोर सत्य का स्वरूप नहीं मिलता, उसमें विद्रोह नहीं विहार है। इसी की प्रतिमूर्तिमय भावना से पूर्ण सौन्दर्य-चित्र छायावाद के कोमलतम कवि पन्त जी की तूलिका से अधिक चित्रित हुए हैं। कवि की प्रेयसी कवि की आत्मा को प्रकाशित करने वाली ज्योति है। वह पार्थिवता का आभूषण नहीं, वरन् प्रकृति की दुलारी अपने नैसर्गिक रूप की रानी है यथा—

अरुण अधरों का पल्लव प्रात मोतियों सा हिलता हिम हास;
इन्द्रधनुषी पट से ढक गात बाल विद्युत का पावस-लास;
हृदय में खिल उठता तत्काल अधखिले अंगों का मधुमास;
तुम्हारी छवि का कर अनुमान
प्रिये प्राणों की प्राण!

यहाँ पर कवि ने अपनी प्रियतमा को प्रकृति-प्रदत्त आभूषणों से सुशोभित किया है। यह एक काल्पनिक-सौन्दर्य का सुन्दर चित्र है। इसी प्रकार अन्य कवियों ने भी सौन्दर्य की प्रतिमूर्ति 'नारी' जाति को नाना वर्णों के आवरण पहना कर उसे अनेक दृष्टिकोणों से देखा है। निराला जी अपनी इस नीचे की कविता में किसी नारी का प्रतिबिम्ब नहीं देखते वरन् कविता को ही एक सुन्दरी का स्वरूप दे देते हैं—

शिला खंड पर बैठी वह नीलांचल मृदु लहराता था;
मुक्त बन्ध संध्या-समीर-सुन्दरी संग
कुछ चुप-चुप बातें करता जाता और मुस्काता था;
विकसित असित सुवासित उड़ते उसके

कुंचित कच गोरे कपोल छू छू कर—
लिपट उरोजों से भी वे जाते थे,
थपकी एक मार बड़े प्यार से इठलाते थे।

इस सौन्दर्य चित्रण में किसी प्रकार की कामुकता नहीं है, और न उद्दीपन की दृष्टि से किया हुआ काव्य परम्परा के अनुमोदन का प्रयास। इसमें जीवन है, सौन्दर्य की स्पन्दनशीलता भी है किन्तु अनुभूति की तीव्रता नहीं है। सौन्दर्य के स्वर्गीय प्रकाश के आनन्द की अनुभूति और है उसकी कल्पना और। इसका कारण सम्भवत: यह है कि सौन्दर्योपासक कवि यथार्थता से अपना समझौता नहीं कर पाता वह तो सुरक्षित तथा शान्त-स्निग्ध जीवन बिताना चाहता है चाहे उसका अस्तित्व केवल उसकी कल्पना में ही रहे। पन्त जी की, 'चाँदनी', 'छाया', 'अप्सरा' आदि कविताएँ नारी-सौन्दर्य के सुन्दर किन्तु काल्पनिक चित्र हैं। वे इतने सजीव नहीं कि उनमें जीवन की स्पन्दनशीलता का अनुभव हो सके। निराला जी की, 'संध्या सुन्दरी,' 'कविता,' 'जुही की कली' आदि कविताएँ भी सौन्दर्य-चित्रण की हैं। छायावाद के काव्य में नारी-सौन्दर्य के कलात्मक चित्रों के अतिरिक्त पंकिल चित्रों का भी निर्माण हुआ है। ऐसा होना अस्वाभाविक नहीं। सौन्दर्योपासक व्यक्ति की सौन्दर्य-सीमा एक बड़ी उलझन में पड़ी रहती है क्योंकि सौन्दर्य की स्थिति कवि के मानसिक तथा बौद्धिक विकासों से स्पष्ट होती है। सौन्दर्योपासक छायावादी कवियों द्वारा भिन्न-भिन्न सौन्दर्य प्रतिमाओं का निर्माण इसी बात का सूचक है। नारी सौन्दर्य के अतिरिक्त शिशु-सौन्दर्य भी कवियों की तूलिका का विषय रहा है।

शेक्सपियर का 'आर्थर' जो निर्दय बधिक के हृदय में भी सरस स्नेह का संचार कर देता है, कालिदास का 'सर्वदमन' दुष्यन्त के निराश हृदय में भी आशा का प्रकाश फैला देता है—शिशु-सौन्दर्य की अद्वितीय प्रतिमाएँ हैं। छायावाद में पंत जी ने इसकी ओर कुछ ध्यान दिया है—"शायद इसका भी मनोवैज्ञानिक कारण यही होगा कि सौन्दर्योपासक का व्यक्तित्व साधारणतः एक नीचे तल पर विकसित होता है (अविकसित नहीं रहता) दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि वह प्रौढ़ावस्था में भी बच्चा ही रह जाता है, जिस व्यक्ति ने वासना का पूरा आवेग जाना है, वह समर्थ यौवन के गीत गाता है; जिस व्यक्ति के भाव धनीभूत होकर भी स्नेह से आगे नहीं बढ़ते वह शैशव को ही आदर्श अवस्था मानता है"—

जरा है आदरणीय !

सुखद यौवन विलास उपवन रमणीय ;

शैशव ही है एक स्नेह की वस्तु सरल कमनीय !

शैशव का यह सरस आकर्षण पन्त जी की अपनी देन है। प्रायः सौन्दर्य चित्र इसी तरह बदलते हुये कुछ तरल, अस्थिर, काल्पनिक होते हैं। कल्पना के माध्यम से सौन्दर्य-स्वरूप का जो प्रभाव हमारे हृदय में पड़ता है वह सदैव सम्मान्य है। छायावाद के निर्मल एवं संयमित सौन्दर्य-चित्रों का हमें अभिमान है। अंग्रेज़ी का प्रसिद्ध सौन्दर्यो-पासक कवि शेली अलौकिक सौन्दर्य के दर्शन करने के पहिले नारी-रूप की उपासना सापेक्ष समझता था। उसकी सम्मति में जो सौन्दर्य लोक सुन्दर और शाश्वत है, उसकी क्षणिक आभा नारी में दिखाई देती है।

मानवात्मा नारी रूप की उपासना से ही क्रमशः पार्थिव से अपार्थिव सौन्दर्य के दर्शन करने में सफल-मनोरथ हो सकती है, शेली के 'प्रोमीथियस' के लिये 'एशिया' उसके जीवन का आलोक एवं अदृश्य सौन्दर्य की छाया है। अस्तु इन छायावादी कवियों की सूक्ष्म प्राकृतिक नारी-रूपों की मान्यता अपने आप बहुत बढ़ जाती है। यह कला का बहुत स्वस्थ तो नहीं परन्तु सुन्दर अंग है।

प्रेम-भावना

सौन्दर्य प्रेम का उत्पादक है। सौन्दर्य-दर्शन में जिस प्रकार विकास एवं संकोच होगा उसी प्रकार प्रेम की भिन्न भिन्न कोटियाँ होंगी। छायावाद की सौंदर्य-भावना के साथ उसका प्रेम भी बहुत स्थूल नहीं। छायावाद के नाम पर बहुत से ऐसे भी प्रेम के चित्र उपस्थित किये गये हैं, जो वास्तविक प्रेम के नहीं, वरन् उद्दाम शारीरिक वासना के अशांत नग्न चित्र हैं। ऐसे प्रेम चित्रों की परिगणना छायावाद में करना भ्रम है। प्रेम जीवन की मूल प्रेरक शक्ति है। मनुष्य मात्र की कोई प्रेरणा उसके अभाव में जीवित नहीं रह सकती किन्तु व्यापक सौंदर्य की भावना ही छायावाद की प्रेम-भावना का आधार है। वहाँ तक तभी पहुँच है जब—

जो कुछ कालिमा भरी है इस रक्त-मांस में मेरे,
यह जलन जलावेगी तब मैं योग्य बनूंगा तेरे !

प्रेम की साधना बड़ी पवित्र होनी चाहिये। प्रेम के शान्त धवल प्रदेश पर उद्दाम वासना का आकर्षण, अशान्ति तथा आक्रमण देखकर कवि का हृदय वेदना से व्यथित हो जाता है वह एक करुण क्रन्दन के स्वर में कह पड़ता है।

प्रणय की महिमा का मधु-मोद,

नवल सुषमा का सरल विनोद ।

विश्व-गरिमा का जो था सार,

हुवा वह लघिमा का व्यापार !

इन पंक्तियों में अप्रत्यक्ष रूप से प्रेम की पवित्रता का निदर्शन है। व्यापकता, विश्वास तथा श्रद्धा प्रेम के लिये आवश्यक हैं—

जब मेरा चिर संचित प्यार, मुझे डुबाता है गंभीर।

द्रोह-मदन. मद का मल मेरा धो देता है जब दृग नीर

तब मेरे सुख का अनुमान क्या तू कर सकती है प्राण !

प्रेम की भावना अपने सूक्ष्म शरीर में आध्यात्मिकता की चूनरी पहिन कर अन्त में अपने चिर सुन्दर से प्रेम करने लगती है किन्तु यह रहस्यवाद का विषय है छायावाद का नहीं। छायावादी कवि तो प्रेम की खंड सत्तात्मक प्रवृत्तियों को भी अपनाता है क्योंकि उसमें अपने जीवन के साथ दूसरे जीवन को अपनाने की आकाँक्षा है। यथा—

गाओ गाओ कुसुम-बालिके

तरूवर से मृदु-मंगल गान

मैं छाया में बैठ तुम्हारे

कोमल स्वर में करलूँ स्नान !

यहाँ पर कवि, कुसुम-बालिके को अपने ही समान सप्राण मानकर उससे अपनी इच्छा प्रकट करता है किन्तु रहस्यवादी कवि ऐसा नहीं कर सकता, वह तो कुसुम में भी अपने अखंड सत्तात्मक प्रियतम का रूप देखता है—

सुमन में तेरा मधुर विकास
कली में नव-नव अस्फुट हास

रहस्यवाद के विषय आत्मा, परमात्मा हैं उसका दृष्टिकोण सांसारिक दृष्टि से उदासीन और अध्यात्मिक है। छायावाद परमात्मा को छोड़कर आत्मा और जगत के प्रदेश में विचरण करता है। दूसरे शब्दों में जिस प्रकार छायावाद स्थूल वस्तुवाद के आगे की चीज है उसी प्रकार रहस्यवाद छायावाद के आगे की चीज है। छायावाद में जिस प्रकार एक जीवन के साथ दूसरे जीवन की अभिव्यक्ति है अथवा एक आत्मा के साथ दूसरी आत्मा का सन्निवेश है, तो रहस्यवाद में आत्मा के साथ परमात्मा का। एक प्राकृतिक अंश को देखकर जब हम उसे अपने ही जीवन सा सप्राण पाते हैं, तो यह हमारी छायावादी अभिव्यक्ति हुई; किन्तु जब उसी अंश को हम किसी परम चेतन का स्वरूप मानते हैं या उसमें एक अखंड, व्यापक और अव्यक्त सत्ता के स्वरूप का आभास आरोपित करते हैं तब वह हमारी रहस्यवादी अभिव्यक्ति होगी। प्रेम की भावना में इन दोनों वादों का भ्रमात्मक रूप भी उपस्थित हो सकता अस्तु यह छोटी सी विभेद रेखा खींच दी गई है।

वेदना की भावना तथा करुणा

वेदना विश्वजीवन की मूल रागिनी है। कवि कंठ की मधुर स्वर लहरी अनादि काल से वेदना सिंचित रही है। क्रौंच पक्षी की अंतस्तल की करुण-निःश्वास से वेदना-विह्वल होकर आदि कवि ने कविता कामिनी को संसार में अवतीर्ण किया था। योरूप के मनीषी कवि दान्ते की प्रियतमा का स्वर्गारोहण ही उसकी कविता का सवाक् चित्र बन गया, इसे कौन

नहीं जानता। इसी प्रकार मानव मात्र या यों कहा जाय कि प्राणी मात्र को एक सूत्र में बाँधने का साधन यदि कुछ है तो हमारी समवेदना ! शायद दुःखवाद को लेकर सृष्टि रचना ही हुई है तभी न विश्व का कण-कण एक अभाव से अनुप्राणित है। सृष्टि क्रम में, जन्म मरण, हास-रुदन, विरह-मिलन से घिरा कवि हृदय जब अपनी मानवीय विवशताओं की ओर दृष्टिपात करता है तब उसके सामने विषाद का एक अन्धकार छा जाता है। असफल अभिलाषाएँ करुण क्रन्दन कर उठती हैं। ऐसे समय में कवि को ईश्वरीय अनुकम्पा एवं सत्ता पर भी सन्देह होने लगता है। यही उसकी वेदना तथा करुणा का कारण है "मनुष्य का हृदय जितनी बार करुणा से द्रवित होता है उतनी ही बार अधिक सुन्दर नवीन जन्म ग्रहण करता है, और जब वह इतना सम्वेदनशील हो जाता है कि विश्व-संगीत के सारे स्वरों की प्रतिध्वनि उसमें उठने लगती है, तब वह एक प्रकार का जीवन मुक्त ही कहा जा सकता है, करुणा की सीमा ही मनुष्यता की चरम सीमा होगी"। अब विचार यह करना है कि इस वेदना का स्वरूप क्या है। यह तो स्पष्ट है कि इसका आधार हमारा जीवन है, भौतिक और आध्यात्मिक। इस समय हमारे सामने जीवन के किसी क्षेत्र का समुचित तथा निश्चित समाधान नहीं है हमारा धर्म, हमारा समाज, हमारे आदर्श सभी एक समस्या के स्वरूप हैं, यहाँ तक कि जीवन-यापन भी एक अशान्ति का कारण बना है। ऐसी दशा में वेदना की बाढ़ अनिवार्य है। इसमें भौतिक भयंकरता तथा आध्यात्मिक आकुलता दोनों का समावेश है। जब हमारा देश पराधीनता के पाश में जकड़ा हो, हमारी अबला मातृ-

शक्ति नित्य ही अपमानित हो रही हो, जहाँ के मनुष्यों को दिन भर की कड़ी मेहनत के बाद एक बार भी भर पेट भोजन न मिलता हो, जहाँ के असंख्य बच्चे बिना उचित पालन-पोषण के अकाल ही काल के गले में चले जाते हों, जहाँ पीड़ित जनता खून के आसुओं में रोती हो, वहाँ के कवियों को रोने के सिवा और क्या सूझ सकता है ? छायावाद में वेदना का प्रवाह स्वाभाविक मनोभावों को लेकर है। अभिव्यक्ति की अपूर्णता, प्रेम की असामञ्जसता, कामनाओं की विफलता, सौन्दर्य की अस्पष्टता, मानवीय दुर्बलताओं के प्रति सम्वेदनशीलता, प्राकृतिक रहस्यमयता तथा भौतिक विकलता ही इसका आधार है यथा —

"नश्वर स्वर से कैसे गाऊँ आज अनश्वर गीत"।
"मेरे हँसते अधर नहीं जग की आँसू लड़ियाँ देखो,
मेरे गीले पलक छुवो मत मुर्झाई कलियाँ देखो"।
"मुझको मिला न कोई ऐसा जो कर लेता प्यार"!

ऊपर की पंक्तियों में वेदना भिन्न कारणों को लेकर प्रवाहित हुई है। हमारा वर्तमान काव्य वेदना का एक हृदय-स्पर्शी संगीत लेकर आया, जिसने हमारी आस्था की रक्षा की है। प्रेयसी की निष्ठुरता से कवि-हृदय तप्त उसाँसे निकालता है—यद्यपि काव्य में व्यक्तिगत सीमित तथा पार्थिव अतृप्ति की वेदना का कोई महत्व नहीं किन्तु यदि वह व्यापक हो तो उसका प्रभाव बहुत ही कल्याणकर भी हो सकता है, ऐसी करुण वेदना जीवन की तत्वमयी आवश्यक वास्तविकता है किन्तु वह इस रूप में सामने आती है—

" एक करुण अभाव में चिर तृप्ति का संसार संचित "।

" जिस प्रकार निशा के अन्धकार में व्यक्तिगत वस्तु भेद-भाव लीन हो जाता है उसी प्रकार दुःख की व्यापक छाया पड़ने पर सभी अपना भेद-भाव भूल जाते हैं। दुःख की भावना ही केवल ऐसी है जो मानव को परस्पर सहानुभूति के एक तार से बाँध लेती है। मनुष्य स्वभाव से सुख को अकेला भोगना चाहता है पर दुःख को बाँटकर। विश्व-जीवन में अपने जीवन को, विश्व-वेदना में अपनी वेदना को, इस प्रकार मिला देना जिस प्रकार एक जल विन्दु अपने को सागर में मिला देता है—यही कवि की निर्वाण प्राप्ति है। व्यक्तिगत सुख विश्व-वेदना में घुलकर जीवन को सार्थकता प्रदान करता है किन्तु व्यक्तिगत दुख विश्व के सुख में घुलकर जीवन को अमरत्व देता है "। दुःख के इस सिद्धान्त की अन्वेषक शुभ श्री महादेवी वर्मा की वेदना इसी भाव को इन पंक्तियों में व्यक्त कर सकी है।

उसमें मर्म छिपा जीवन का
एक तार अगणित कम्पन का
एक सूत्र सब के बन्धन का

लघु मानस में वह असीम जग को आमंत्रित कर लाता !

दुःख की उपयोगिता उनके भावना क्षेत्र को इतना परिपूर्ण कर देती है कि उस में सुख के लिये कुछ भी स्थान नहीं रह जाता। दुःख का पक्ष उनकी इन पंक्तियों से सहज ही सबल पड़ जाता है—

तुमको पीड़ा में ढूँढ़ा, तुम में ढूँढ़ूँगी पीड़ा !

उनकी इस पीड़ा में एक माधुर्य है एक नवजीवन फूंकने की शक्ति है। पंत जी ने भी दुःख के प्रति बड़े मार्मिक उद्गार उद्भूत किया है—

दुख इस मानव आत्मा का रे नित का मधुमय भोजन;
दुख के तम को खा-खाकर भरती प्रकाश से वह मन।
अपनी डाली के काँटे हैं नहीं बेधते अपना तन;
सोने से उज्ज्वल बनने तपता नित प्राणों का धन!

× × × ×

आँसू की आँखों से मिल भर ही आते हैं लोचन।

प्रसाद जी की करुणा तो उनकी सर्वस्व है। उनके विषय में इतना पर्याप्त है—

"सुनकर तुम क्या भला करोगे मेरी भोली आत्म कथा!
अभी समय भी नहीं थकी सोई है मेरी आत्म कथा"!

निराला जी के चित्र भी कम कोमल तथा सुकुमार नहीं हैं। उनकी करुणा हृदय में एक हलचल मचा देती है। उसमें आँखों को सजल कर देने की क्षमता है—यथा

वह इष्ट-देव के मन्दिर की पूजा सी,
वह दीप शिखा सी शान्त भाव में लीन
वह क्रूर काल-ताण्डव की स्मृति रेखा सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन—
दलित भारत की ही विधवा है!

वेदना तथा करुणा के इन सहज स्वाभाविक चित्रों के अतिरिक्त

छायावाद की ओट में कुछ व्यक्तिगत निराशा के भी चित्रण हैं जो अपनी एकान्तता में ही फँसे से हैं—

देख रोता है चकोर इधर, वहाँ
तरसता है चातक बारि को
वह मधुप विंध कर तड़पता है, यही
नियम है संसार का, रो, हृदय रो !

इसी प्रकार प्रेमिका के सलज्ज मौन के आघात से कवि सिसक पड़ता है—

आह ! कितने विकल-जन-मन मिल चुके,
हिल चुके, कितने हृदय हैं खिल चुके !
तप चुके वे प्रिय-व्यथा की आँच में
दुःख उन अनुरागियों के हिल चुके।
क्यों हमारे ही लिये वे मौन हैं ?

ऐसी वेदना कालान्तर में निराशा का रूप धारण कर लेती है, कवि विवशता में बँध कर व्याकुल हो उठता है—

मेरे उर में पत्थर धर दो !
जीवन की नौका का प्रिय धन
लुटा हुआ मणि-मुक्ता-कंचन
तो न मिलेगा, किसी वस्तु से इन खाली जगहों को भर दो !

पार्थिव घात-प्रति घातों से निराशा का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है। उसका भार उठा सकने में असमर्थ कवि आक्रान्त हो जाता है—

नहीं सहा जाता अब तो देवि
असफलता का यह भीषण भार !

अपनी असफलताओं, वेदनाओं के भार से दब जाने पर हमारी साधना अपनी सिद्धि नहीं पाती क्योंकि कवि की उसी वेदना का काव्य में महत्व है जो स्वयं दीप सी जलकर विश्व को आलोकित करती रहे यथा—

चिर ध्येय यही जलने का.
ठंडी विभूति बन जाना।
है पीड़ा की सीमा यह,
दुख का चिर सुख हो जाना !

तभी कवि अपनी करुणा से नव-सृजन कर सकता है—

मैं नीर भरी दुख की बदली !
जल-कण हो रज-कण में बरसी
नव-जीवन-अंकुर हो निकली !

जीवन और जगत्

कविता की जन्मभूमि आत्मा है। कवि न तो किसी उपदेश से चलता न उपदेश देता। बाह्य सिद्धान्तों के अनुसार भी वह अपने को नहीं चला सकता क्योंकि कवि इस बात को भली प्रकार जानता है कि मनुष्य के जीवन में जो सिद्धान्त नहीं उतरे उनका मूल्य कुछ भी नहीं है। जिस प्रकार सारे दर्शन ग्रन्थों को कंठस्थ करके कोई व्यक्ति दार्शनिक नहीं हो सकता उसी प्रकार सिद्धान्त विशेष की जानकारी उसे उस पथ का पथिक नहीं बना पाती, हमारे विचारों का मूल्य हमारे जीवन को ही लेकर है।

छायावादी कवि अपना जीवन तथा अपनी आत्मा की विश्वस्तता के साथ विश्व-जीवन तथा आत्मा से अनन्त सहानुभूति रखता है, सम्भवतः इसी कारण वह विश्व को अपने में और अपने में विश्व को देखता है। जीवन के सभी पक्षों की अनुभूति के लिये वह अपने हृदय के द्वार खोल रखता है। जीवन सुख-दुख, हास-विषाद प्रेम-घृणा की आँख मिचौनी है। जीवन न तो पूर्णतया सुख ही न दुख ही, सुख-दुख तो जीवन-पंछी के दो पंख हैं जिनसे वह इस अनन्त विश्व में साधनाशील होकर जीवन के, आत्मा के सत्य को खोजता है यथा—

सुख दुख के मधुर मिलन से यह जीवन हो परिपूरन ;
फिर घन में ओझल हो शशि औ शशि में ओझल हो घन !

प्रसाद जी ने इसी भाव को अधिक सुन्दर रूप से व्यक्त किया है—

लिपटे सोते थे मन में सुख-दुख दोनों ही ऐसे ;
चन्द्रिका अंधेरी मिलती मालती-कुञ्ज में जैसे !

महादेवी जी जीवन को हर्ष-प्रधान अथवा हर्ष-विषाद का सम्मिलन मानने की अपेक्षा उसे वेदना प्रधान मानती हैं। उन्होंने लिखा है—

"जीवन में मुझे बहुत दुलार, बहुत आदर और बहुत मात्रा में सब कुछ मिला है, उस पर पार्थिव दुख की छाया नहीं पड़ी। कदाचित् यह उसी की प्रतिक्रिया है कि वेदना मुझे इतनी मधुर लगने लगी है। बचपन से ही भगवान बुद्ध के प्रति एक भक्तिमय अनुराग होने के कारण उनकी संसार को दुखात्मक समझने वाली फिलासफ़ी से मेरा असमय ही परिचय हो गया था। दुख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है जो सारे संसार को एक सूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है। हमारे असंख्य

सुख हमें चाहे मनुष्यता की पहिली सीढ़ी तक भी न पहुँचा सके किन्तु हमारा एक बूँद आँसू भी जीवन को अधिक मधुर अधिक उर्वर बनाये बिना नहीं गिर सकता"। अपने इन विचारों के अनुसार वे सभी वस्तुओं में उस अनन्त विषाद का ही प्रतिबिम्ब देखती है यद्यपि उनके इस विषाद का ज्ञान ही मानव जीवन के सुख का समाधान है—

विकसते मुरझाने को फूल, उदय होता छिपने को चन्द,
शून्य होने को भरते मेघ, दीप जलता होने को मन्द;

यहाँ किसका अनन्त यौवन ?

प्रसाद जी की ये पक्तियाँ भी कुछ इसी भाव की उद्‌भावना करती है—

मत कहो कि यही सफलता कलियों के लघु जीवन की ;
मकरन्द भरी खिल जाये, तोड़ी जावे वे मन की !

इसका कारण यह है कि—"हम जीवन को सार रूप में ग्रहण कर सकते हैं संसार रूप में नहीं"। जीवन का अस्तित्व केवल सुख-दुख के युगल पुलिनों के बीच में ही नहीं है, उसकी एक अपनी स्वत्रत शाश्वत सत्ता भी है—

अस्थिर जीवन का सुख-दुख, जीवन ही सत्य चिरन्तन !
सुख-दुख से ऊपर मन का जीवन ही रे अवलम्बन !

बच्चन जी का भी एक दृष्टिकोण सुख-दुख सम्बन्धी ज्ञातव्य है—

साथी साथ न देगा दुख भी !
काल छीनने दुख आता है,
जब दुख भी प्रिय हो जाता है
नहीं चाहते जब हम दुख के बदले में लेना चिर सुख भी !

जिस परवशता का कर अनुभव
अश्रु बहाना पड़ता नीरव,
उसी विवशता से दुनिया में होना पड़ता है हँस मुख भी !

आधुनिक छायावादी कवियों का वैराग्य में अथवा जगत के कार्यक्रम से उदासीनता में विश्वास नहीं वरन् कर्म में अधिक विश्वास है। हाँ इतना अन्तर अवश्य है कि कहीं पर तो वह केवल सैद्धान्तिक सहानुभूति के रूप में है कहीं पर जीवन के साथ, फिर भी मुक्ति की अपेक्षा उन्हें जीवन के बन्धनों से अधिक आस्था है—

जीवन के नियम सरल हैं, पर है चिर गूढ़ सरलपन ;
है सहज मुक्ति का मधुक्षण, पर, कठिन मुक्ति का बंधन !

श्री रवीन्द्र ने भी अपनी कविताओं में मुक्ति की ऐसी ही उपेक्षा की है। उनकी 'स्वर्ग से विदा' नामक रचना इस बात का प्रमाण है। अंग्रेज़ी कवि ब्राउनिङ्ग ने भी इसी तरह की भावाभिव्यक्ति की है। उसके हृदय की वे चित्त वृत्तियाँ इस प्रकार हैं—वह स्वर्ग-सुख से ऊब गया है, स्वर्ग के अस्तित्व में ग्लानि का भाव उदित हो गया है, वह पुनः पार्थिव जगत में आने को व्याकुल है। महादेवी जी की ये पंक्तियाँ इस विषय को बहुत ही मार्मिक ढंग से छू सकी हैं।

आज वरदो मुक्ति आवे बन्धनों की कामना ले
क्योंकि—क्या अमरों का लोक मिलेगा तेरी करुणा का उपहार ?
रहने दो हे देव अरे यह मेरा मिटने का अधिकार।

किन्तु वे कर्म-योग के विश्वास के साथ फल की आकांक्षा नहीं

करतीं—मानो गीता की ये अमर पंक्तियाँ उनकी कविता में नव-जीवन पा गई हों—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन

उसी भाव को उन्होंने यों व्यक्त किया है जो उतना सिद्धान्तमय न होकर काव्यमय है—

इस अचल क्षितिज रेखा से, तुम रहो निकट जीवन के ;
पर तुम्हें पकड़ पाने के, सारे प्रयत्न हों फीके !

इन साधनाशील तथा जगत्-प्रिय हृदयों के अतिरिक्त एक बड़ी संख्या उन कवियों की भी है जो संसार की ज्वाला से, वेदना पूर्ण स्थिति से, व्याकुल होकर एक नये ही लोक में जाना चाहते हैं—

हमें जाना है जग के पार !
जहाँ नयनों से नयन मिलें,
ज्योति के रूप सहस्र खिलें,
सदा ही बहती नव-रस धार !
वहीं जाना इस जग के पार !

× × ×

ले चल वहाँ भुलावा देकर
मेरे नाविक ! धीरे धीरे,
जिस निर्जन में सागर लहरी
अम्बर के कानों में गहरी
निश्छल प्रेम कथा कहती हो
तज कोलाहल की अवनी रे ।

कुछ कवि इस श्रेणी के भी हैं जो संसार की इस अशान्ति उद्वेग के कारण उसका अस्तित्व ही मिटा देना चाहते हैं। वे प्रलय को निमंत्रित करते हैं—

गगन पर घिरो मंडलाकार! अवनि पर गिरो वज्रसम आज!
गरज कर भरो रुद्र हुंकार, यहाँ पर करो नाश का साज!

प्रकृति-भावना

इन कवियों ने प्रकृति की सुषमामयी गोद में किलोलें करके उसका बड़ा ही सुन्दर तथा कलापूर्ण चित्रण किया है। जिस प्रकार अंग्रेज़ी रोमैन्टिक कविता ने प्रकृति के अन्तस्तल में प्रवेशकर उसमें अमर सौन्दर्य, अलौकिक रहस्य, तथा जीवन के मधुर सम्बन्ध के चित्र अंकित किये हैं उसी प्रकार छायावादी कवि ने भी प्रकृति-प्रिय गान गाये हैं—

सिखा दो ना अयि मधुप-कुमारि, तुम्हारे मीठे-मीठे गान,
कुसुम के चुने कटोरों से करा दो ना कुछ-कुछ मधु पान!

फिर तो वह प्रकृति का इतना दुलारा और परचित प्राणी हो जाता है कि वह उसी के साथ खेलता है, कलरव करता है, उसी में मिल सा जाता है। उसे ऐसा मालूम होने लगता है जैसे इन पक्षियों को भी उसी ने गाना सिखाया हो—

विजन-वन में तुमने सुकुमारि, कहाँ पाया यह मेरा गान,
मुझे लौटा दो विहग-कुमारि सजल मेरा सोने सा गान!

पन्त जी ने 'बादल,' 'चाँदनी,' 'छाया,' 'एकतारा' कविताओं में प्रकृति के बहुत ही सुन्दर एवं सजीव चित्र दिये हैं। निराला जी की 'जुही की कली,' 'शेफालिका' कविताओं में प्रकृति चित्रण

एवं प्रकृति पर्यवेक्षण-चातुरी की जिस अद्वितीय प्रतिमा के दर्शन होते हैं, वह हिन्दी साहित्य की स्थायी सम्पति है। निराला जी की 'सन्ध्यासुन्दरी' तो इतनी सप्राण हो उठी है कि उसके स्पन्दन का आभास कविता पढ़ते ही होने लगता है—

दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह सन्ध्या सुन्दरी परी सी
धीरे, धीरे, धीरे,
तिमिराञ्चल में चञ्चलता का नहीं कहीं आभास,
मधुर मधुर हैं दोनों उसके अधर
किन्तु ज़रा गम्भीर, नहीं है उनमें हास-विलास !

कविता पढ़ते-पढ़ते ऐसा जान पड़ता है मानो साँझ अपनी सारी उदासी के साथ संसार में उतर रही है। जोशी जी की 'विजनवती' प्रथम वर्षा, 'मधुवन का माली' कविताओं में प्रकृति के मर्मों का मननशील रहस्योद्घाटन है—

वह सरिता की कलित-ललित गति,
सागर का फेनिल कल्लोल ;
उपवन की वह मृदु मादकता,
कानन का मर्मर हिल्लोल !
मधु आसव से गंध-विधुर वह
मलयानिल का मदिरोच्छ्वास,

उच्छ्वल फेनिल-जलधि-विलोड़ित
पुरवैया का सजल उसास !

भाव और विचार की इस नवीनता तथा अलौकिकता के साथ आधुनिक हिन्दी-साहित्य में छायावाद के द्वारा प्राचीन परम्परा के प्रति क्रान्ति और विद्रोह की अग्नि भी प्रज्वलित हुई। उसका स्पष्ट स्वरूप इस काव्य शैली में देखा जा सकता है। प्रबन्ध-काव्य की परम्परा अतल उदासीनता में डूब सी गई है, उसके स्थान में गीत काव्य का निर्माण हुआ है। 'प्रसाद' 'निराला' 'पन्त' ने सर्व प्रथम बंगला-साहित्य तथा अंग्रेज़ी साहित्य के प्रभाव से हिन्दी-साहित्य में उसका श्रीगणेश किया। गीत काव्य का नेतृत्व महादेवी जी के हाथ में रहा, उनके गीतों की मधुरता एवं रमणीयता अन्यत्र नहीं है। कालिदास तथा तुलसी के शब्द-चित्र अतीत की गोद में सो गये थे किन्तु इन कवियों ने उनका पुनः निर्माण किया—शब्द स्वयं बोलते से हैं—

'**गहरे, धुँधले, धुले, साँवले, मेघों से मेरे भरे नयन** '।

कहीं-कहीं तो कवियों के शब्द-चित्रण की कुशलता उनके चित्रों को चेतन जैसा सवाक, सप्राण तथा सहज सुन्दर बना देती है—

सोती थी सुहाग भरी स्नेह स्वप्न-मग्न—
अमल-कोमल-तनु तरुणी जुही की कली,
दृग बन्द किये शिथिल पत्रांक में।

पुराने छन्दों को जो कि व्रजभाषा के ही विशेष उपयुक्त थे अलग कर दिया गया और उनकी जगह नये-नये छन्दों की उद्भावना की गई। नवीन-छन्दों के साथ-साथ मुक्तक-छन्द भी कविता-कानन में गूँजने लगे।

इनका सूत्रपात 'निराला' जी ने किया। कल्पना शक्ति अधिक गतिशील तथा सरस हो गई, साथ ही कविता-कला संगीत-कला के साथ एकाकार होकर स्वयं मधुरता की मूर्ति बन गई।

इस प्रकार बंधनों से मुक्त, शृङ्गार से युक्त कविता-कामिनी अपने नवल नूपुरों की मञ्जुल ध्वनि से संसार को विमोहित करती हुई विश्व-साहित्य प्राँगण में उतर पड़ी। काव्य की इस धारा का हमारे साहित्य में एक विशेष स्थान है, इसने केवल इतिहास में नहीं वरन् हृदयों में घर बनाया है। अनचाहे भी, लोगों को इसे प्यार करना पड़ा है। इस उपर्युक्त विवेचना के बाद हम सारांशतः इसी धारणा पर पहुँचते हैं।

भावलोक की सत्ता जिस प्रकार अनुभव की, केवल अनुभव की वस्तु है; उसी प्रकार छायावाद भी अनुभव की वस्तु है। जिस प्रकार हम प्राणधारियों में एक ही प्राण का प्रवेग एक हृदय से लेकर दूसरे हृदय तक, एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक लहराता है, उसी भाँति सारी दृष्टि प्रकृति एक ही प्राण की अभिन्न लहर से ओत-प्रोत है। उपवन की सुकुमार कली से लेकर विजन वन की कठोर झाड़ी तक एक ही प्राण-प्रवाह की हिलोर आती जाती है, एक ही जीवन-वारि से सब सजल हैं, एक ही आंतरिक सूक्ष्म तत्त्व से अनुप्राणित हैं। प्रकृति में व्याप्त यह प्राण-तरंग और प्राणधारियों में सिंचित प्राण-उर्मि दो अलग-अलग चीज़ें नहीं हैं, वरन् एक ही सागर की जल बीचियाँ हैं। वह सागर है उस महापुरुष के महाप्राण का अनन्त प्लावन। अतः यदि प्राणधारी प्रकृति में अपने प्राणों की धूमिल छाया देखे अथवा

प्रकृति प्राण धारियों में अपने प्राणों की झिलमिल झाँकी पावे तो आश्चर्य ही क्या है ? आत्मीयता हर जगह और हर एक जीव में गतिशील रहती है, आत्मीय के प्रति ममत्व का भाव चेतन तो क्या जड़ पदार्थों में भी निराकृत नहीं हो सकता। स्वाभाविक रूप से मानव की मानव के प्रति पशु की एक पशु के प्रति विशेष ममता होती है। पशु के नहीं, किन्तु मानव के जीवन में कुछ ऐसे भी क्षण आते हैं जब उसका अस्तित्व अपनी मानवीय सीमा का अतिक्रमण करने लगता है। उस समय मानव की ससीम आत्मानुभूति मुक्त तथा व्यापक होकर समस्त विश्व के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ने लगती है। अपने घरोंदे से ऊपर उठकर मनुष्य की भावानुभूति सूक्ष्म (ईथर) की भाँति प्रकृति के कण-कण से स्नेहालिंगन करने लगती है। उस समय आत्मा अपना ही चित्र, अपना ही 'स्व' (सेल्फ) प्रत्येक स्थल पर प्रत्येक वस्तु में देखती है। इस समत्व आत्मीय क्षण से परिचय कराने वाली अनुभूति तथा सम्बन्ध जोड़ने वाली चेतना दोनों ही अपना अस्तित्व भूल जाती हैं—केवल एक सत्ता रह जाती है या तो 'हम' या हम से सम्बन्धित पदार्थ—दोनों एक दूसरे में निगूढ़ और एकात्म—पूर्णतया अभिन्न, अनजाने एक निर्झरिणी बह पड़ती है—

किसी अश्रुमय घन का हूँ कन
टूटी स्वर लहरी का कम्पन
या ठुकराया गिरा धूल में
हूँ मैं नभ का फूल !
कहीं से आई हूँ कुछ भूल !

अपने ही अश्रुमय जीवन का 'घन' में आभास, अपने ही विशृङ्खल मन का 'टूटी स्वर लहरी' में साकार चित्र और अपने ही विजन अस्तित्व का ' नभ के गिरे ' फूल में एकात्म स्वरूप—कितनी सरस सुन्दर तथा करुण समता है; यद्यपि यही समता आगे चलकर द्वैत को छोड़कर ऐक्य का अद्वैत बन जाती है—

जब अपनी निश्वासों से
तारे पिघलाती रातें,
गिन-गिन धरता था यह मन
उनके आँसू की पातें !
घिर कर अविरल मेघों से
जब नभ-मंडल झुकजाता,
अज्ञात वेदनाओं से
मेरा मानस भर आता !
गर्जन के द्रुत तालों पर
चपला का बेसुध नर्तन :
मेरे मन बाल शिखी में
संगीत मधुर जाता बन !

यही छायावाद का सजीव चित्रण है। जब हमारी आत्मा अपने हृदय की व्यापक भावानुभूति में समस्त विश्व के उपकरणों से एकात्म भाव-सम्बन्ध जोड़ने लगती है, जब हमारा हृदय अपनी रागात्मक आत्मीयता से इतना अपरिमित हो जाता है कि अपनी भाव सत्ता से

समस्त जड़-चेतन पदार्थों को अपना बना लेता है—उस समय की पूर्णता में, अपनी बेसुध विह्वलता में हमारे हाथ से जो मूर्ति बनेगी, हमारी तूलिका से जो चित्र निर्मित होगा, हमारे स्वर से जो रागिनी छिड़ेगी, हमारे अंगों से जो भाव व्यञ्जना होगी तथा हमारे कंठ से जो वाणी फूट पड़ेगी वह सब छायावाद ही के प्राणों से अनुप्राणित, उसी की गति से गतिशील तथा उसके ही रँग में रँगी होगी। छायावाद की यही विकास सत्ता है।

हमारे धार्मिक शास्त्रों में उपदेशों की ऐसी अनन्त लड़ियाँ बिखरी हुई हैं जिनमें समता का प्रबोधन है प्राणि-मात्र को समान तथा अपने को सब के समान समझने की शिक्षा है। हमारे महापुरुषों, हमारे महात्माओं ने अपनी आत्मीयता के भावोन्मेष को समस्त विश्व के एक छोर से दूसरे छोर तक प्रसारित किया था और करते भी हैं किन्तु इसमें छायावाद की छाया का भ्रम भी न होना चाहिये। काव्य का छायावाद इस समता न्याय के छायावाद से भिन्न वस्तु है, काव्य के छायावाद का सम्बन्ध भावलोक से है, वह अनुभूति एवं कल्पना के पंखों से भाव-जगत में उड़ता और विचरण करता है। उसमें चेतना तथा तर्कना के लिये कोई स्थान नहीं है। इसके प्रतिकूल प्रबोधन अथवा ज्ञान का छायावाद या तो पूर्णतया तर्क का विषय है या केवल मन की एक साधना। ज्ञान का छायावाद आचार का विषय है, दर्शन का परिणाम है, विचारों का फल है, और भावना का छायावाद अनुभूति का, भावात्मक प्रतीति का। इन दोनों में भ्रम का भय है।

अस्तु हम कह सकते हैं कि भारतीय-साहित्य-समाज के अन्तःपट पर

छायावाद ने जो भावों की कसक भरी मीठी मनुहार दी है, जो मादक रागिनी छेड़ी है, जो वासंती तान गुञ्जित की है, उल्लास की वीणा पर भव्य भावनाओं की जो कोमल उँगलियाँ फेरी है, कल्पना के कमनीय पंखों पर उड़कर संसार की जो सुनहली झाँकी ली है वह सब अपनी सरसता, स्निग्धता तथा संगीतमयता के कारण अमिट और अमर हैं। इसमें सन्देह नहीं है।

रहस्यवाद

धर्म साहित्य का आवश्यक और आदि उपादान है। बिना धर्म के साहित्य का निर्माण नहीं हो सकता। संसार के सभी देशों का साहित्य धर्म की नींव पर ही आरूढ़ है। विश्व के आदिम निवासियों को, अन्तःकरण में प्राकृतिक-बाह्य वस्तुओं की भय ने धार्मिक बनाया। उनका प्राथमिक आश्चर्य तथा भय उन्हें दर्शन की ओर उन्मुख नहीं कर सका, वह केवल उनकी उपासना की भावना को ही जागृत कर सका। इस उपासना के भीतर आस्था की अपेक्षा भय का ही आधिक्य पाया जाता है—

"हे मेघों के स्वामी! तुम बज्र गिराकर अथवा अवर्षण से कृषि नष्ट करके हम लोगों को कष्ट न देना। लो, तुम्हारी सन्तुष्टि के लिये हम भाँति-भाँति की सुन्दर वस्तुयें तुम्हें अर्पण करते हैं।" इसी प्रकार अनेक अलक्षित शक्तियों की आराधना तथा अर्चना की गई है। आदि मानव को प्रकृति ने चारों ओर से घेर रखा था, फलतः वह इस प्राकृतिक माया-पाश को छिन्न भिन्न करके ऊपर नहीं उठ सका और बहुत दिनों तक प्रकृति-पूजा में ही लीन रहा। प्रकृति के प्रति विस्मय की भावना ही मनुष्य के और उसके प्रथम संबंध का कारण बनी क्योंकि संसार में जन्म लेते ही मनुष्य

को प्रकृति से व्यवहार करना पड़ता है। इस व्यवहार-संबंध के फल स्वरूप मनुष्य ने यह जाना कि जीवन के लिये एक बड़े संघर्ष की आवश्यकता होती है। जो संघर्षशील हैं वही प्रकृति के साथ अपना व्यावहारिक लगाव रख सकते हैं, जो नहीं हैं उनको प्रकृति स्वयं नष्ट कर देती है। इस भावना ने मनुष्य को प्रकृति अनुकूलता प्राप्ति की चेतना दी और पहिले की यह भावना कि प्रकृति हमारे प्रतिकूल है, प्रकृति में व्यक्तित्व का कोई स्थान नहीं है, और उसका एक अपना उद्देश्य है, धीरे-धीरे लुप्त सी होने लगी। अधिक परिचय से स्वभावतः मनुष्य का विस्मय तथा भय जाता रहता है। मनुष्य ने इसी नियम से यह जान पाया कि प्रकृति की इस संघर्षशीलता में केवल प्रतियोगिता ही नहीं बरन एक सहयोगिता भी है। प्रकृति के इस उद्देश्य को जान लेने से मनुष्य उसे अपनी जीवन-यात्रा की सहचरी समझने लगा। अब वह संबंध विस्मय तथा भय का न होकर साहचर्य में बदल गया। अनंत आकाश मंडल, उच्च-शुभ्र-शिखर श्रेणियाँ, अतल-जल-राशि सागर, श्यामला बसुंधरा अब भय की अपेक्षा मानव के आनन्द का कारण बन गईं। इस आनन्द की अभिवृद्धि में प्रकृति के तथ्यों का और भी अधिक अध्ययन हुआ और मनुष्य ने सम्पूर्ण प्रकृति में एक ही नियम की सत्ता का आभास पाया। सागर से मेघ जल लेते हैं और वही जल फिर पृथ्वी को वापस कर देते हैं इस प्रकार अनन्त आकाश और पृथ्वी एक दूसरे से आबद्ध हैं, सब एक दूसरे से बँधे हैं। यह संबंध स्थापित होते होते प्रकृति ज्ञेय और मनुष्य ज्ञाता बन जाता है। यहीं से मनुष्य के हृदय में एक सामञ्जस्य विधान की आकांक्षा उत्पन्न होती है।

जब तक मनुष्य प्रकृति के संसर्ग में रहता है, तब तक वह उसी में सत्य का स्वरूप देखता है किन्तु जब वह उसका पूर्ण परिचय पा जाता है और उसको एक तटस्थ भावना से देखता है तब वह प्रकृति में नहीं वरन् अपनी अंतर्हित शक्ति में सत्य का अनुभव करने लगता है। इस अवस्था तक पहुँचने में मनुष्य को बहुत समय एवं साधना की आवश्यकता होती है। मनुष्य की मानसिक स्थिति उसके तथा प्रकृति के बीच में एक ऐसा व्यवधान उपस्थित करती है जिसको पार करना कठिन होता है किन्तु मनुष्य तो सदैव विकासशील प्राणी है अन्त में वह अपनी आत्म चेतना की प्रेरणा से इसे पार कर जाता है। यहीं से उसकी वस्तु जगत की अवहेलना प्रारम्भ होती है। इस उद्भावना के भी कारण हैं! जीवन काल से प्रकृति की यह घनिष्ठता चली आयी है किन्तु सभ्यता के विकास से उसका रूप बदल जाता है। मनुष्य जब क्रमशः इन्द्रियों से. मन से, बुद्धि से तथा कल्पना एवं आनन्द से बाह्य प्रकृति का उपभोग कर लेता है तब उस ओर से उदास होना उसके लिये स्वाभाविक है क्योंकि तब एक मात्र प्रकृति ही उसका आश्रयाधार नहीं रह जाती। प्रकृति के भिन्न भिन्न स्वरूपों में वह सदैव एक अस्थिरता का भाव पाता है। प्रकृति के शक्ति-समूह में भी वह सम्पूर्णता की प्राप्ति नहीं कर पाता, इससे उसका असंतोष और भी बढ़ जाता है। वह सोचता और देखता है कि जिस चैतन्य शक्ति की सत्ता का अनुभव उसने प्रकृति में किया, वह तो उसके अन्तर्जगत में भी स्थिति है। वह प्रकृति को छोड़कर मनुष्य को ग्रहण करता है। मानव रूप में भी कला कभी अपना पूर्ण विकास नहीं पा सकी तब उसका लक्ष्य जीवन हुआ। पवित्रता रमणीयता और निर्मलता जीवन

के आदरणीय उपकरण माने गये और इन्हीं गुणों की पराकाष्ठा दिखलाने के लिये आदर्श चरित्रों, देवताओं की मान्यता बढ़ी।

प्रकृति की भाँति मानव-समाज भी अपनी जन्म-जात विवशताओं के कारण साहित्य के चरम लक्ष्य की पूर्ति नहीं कर सका। वैदिक देवता भी मनुष्य की जीवन जटिलता को नहीं सुलझा सके अस्तु एकबार पुनः भावना में परिवर्तन आया। प्रश्न होने लगे—

कस्मै देवाय हविषा विधेम

इस शंसय तथा उत्सुकता का फल यह हुआ कि स्वच्छन्द मनोवृत्ति से प्रेरित होकर मनुष्य अपने अनुकूल विचारों में संलग्न रहने लगे, उसी समय प्रथम बार दार्शनिक विचारों का उनके मस्तिष्क में आविर्भाव हुआ क्योंकि दर्शन मानव समाज के यौवन-वसंत का सुफल नहीं वरन् उसके वयः परिणाम का फल है। यहाँ पहुँच कर मनुष्य सोचने लगता है—जीवन के इन नाना रूपों का क्या मूल्य है ! इनका उद्गम कहाँ से हुआ ! अन्त कहाँ है ! आदि-आदि।

जब साहित्य अपने विकसित रूप में आ जाता है तब विश्व तथा जीवन की उस दृष्टि को सामने रखने का प्रयत्न करता है जिससे मनुष्य की आध्यात्मिक तथा भावात्मक आवश्यकता पूर्ण होती है। साहित्य, संसार तथा जीवन की यही आध्यात्मिक अवस्था है। इस प्रकार हम देखते हैं कि क्रमशः प्रकृति भावना, मानव-भावना इस आध्यात्मिक भावना के जिसे हम विश्व भावना भी कह सकते हैं प्राथमिक क्रम चरण हैं। यहाँ मानव समाज की मनोवृत्तियों, मान्यताओं तथा आदर्शों में भी एक विशेष

परिवर्तन हो जाता है। अब की उपासना, जल-वायु तथा इन्द्र वरुण के रूप में न होकर यों होने लगी थी—

" यो देवोऽग्नौ योऽप्सु यो विश्वभुवनमा विवेश
यो श्रोषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः "

अर्थात् जो देव अग्नि में, जल में विश्वभुवन में, औषधियों तथा वनस्पतियों में है उसे नमस्कार है। उपनिषद् की बुद्धिमती गार्गी को ऋषि याज्ञवल्क्य ने उसके प्रश्न का कि—"इस निखिल प्रपंच का मूल क्या है" ? उत्तर दिया था "इसका मूल है आकाश" किन्तु जब उसने फिर पूछा, "इस आकाश का कारण क्या है" ? इसका उत्तर उन्होंने यों दिया था, "वह मूल कारण मानव अनुभव की पहुँच के परे है"। तब से संसार इसी अनुभव की, इसी रहस्य की खोज में व्यस्त है। संसार की नाना जातियों में, हमें एक ऐसी श्रेणी के मनुष्यों का परिचय मिलता है जो इन्द्रियानुभूति पर आस्था नहीं रखते। यह पार्थिव जगत उनके लिये मिथ्या है जो कुछ सत्य है इसके परे है। उस सत्य का प्रत्यक्षीकरण ही उनके जीवन का व्रत होता है। इस साधना में सफलता मिले अथवा न मिले परन्तु आज तक कोई साधक थक कर इस पथ से लौटा नहीं, उनमें से तो बहुतों का कहना है कि उन्होंने अपनी साधना की सिद्धि पायी है और समय-समय पर उनका उनके आराध्य के साथ संयोग भी हुआ है। इस आध्यात्मिक उद्भावना तथा उपासना का ही एक स्वरूप रहस्यवाद है।

मनुष्य लोग जब से अपनी मानवीय विवशता में अथवा प्राकृतिक व्यापारों की विशालता में किसी एक अलक्षित शक्ति के प्रभाव तथा अस्तित्व की कल्पना करने लगे, तभी से रहस्यवाद का वीजारोपण हुआ।

जिस समय उन्होंने यह समझा कि उनकी परिमित शक्तियों और विश्व की अपरिमित शक्तियों का सञ्चालक एक ही सर्व शक्तिमान है और उसकी प्राप्ति ही जीवन का साफल्य है उसी समय रहस्यवाद की भावना सिहर उठी। मानव हृदय में धार्मिक भावना भी उसी तरह सार्वभौम है जिस तरह प्रेम, ईर्षा की भावनाएँ। अस्तु रहस्यवाद की आधार भूमि धार्मिक भावना मालूम पड़ती है। इसके विषय हैं आत्मा, परमात्मा और जगत्। संसार के भिन्न भिन्न साधकों ने इसके विषय के अपने भिन्न भिन्न अनुभव बताये हैं किन्तु सभी में उस महान अखंड शक्ति के आलोक का आभास उनकी आत्मा को मिला है यथा—

सुन हस्ती कर नाँव, अँधरन टोवा धाय कै।
जेइ टोवा जेहि ठाँव, मुहमद सो तैसे कहा॥

फिर भी इतना तो निश्चित है कि, रहस्यवाद हृदय की वह दिव्य अनुभूति है जिसके भावावेश में प्राणी अपने असीम और पार्थिव अस्तित्व से उस असीम एवं अपार्थिव महाअस्तित्व के साथ एकात्मकता का अनुभव करने लगता है। दूसरे शब्दों में—"रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है और यह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता"। रहस्यवाद की सत्ता काव्य में भी है और दर्शन में भी। काव्य के रहस्यवाद का प्राण भाव है और उसका उद्गम स्रोत हृदय है। दर्शन के रहस्यवाद का प्राण ज्ञान है और उसका उद्गम मस्तिष्क है। दोनों का अपना-अपना महत्व तथा स्वरूप है। अन्तर भी दोनों में इतना है जितना एक

नियमित और निश्चित सड़क में और सरिता में चलती हुई नौका के पथ में। एक के आस पास गाँव बस्ती या सुनसान निर्जन है और है उसका अपना ठोसपन तथा दूसरे के पास कल कल सुमधुर संगीत की ध्वनि और अपनी सजलता। एक में चेतना का शून्य व्याप्त है दूसरे में भावना का सौरभ। एक की जहाँ निरी धार्मिक भावना दार्शनिकता-प्रधान और नीरस होगी, वहाँ उसी आधार पर लिखी गई कविता भावुकता-प्रधान और सरस होगी। जहाँ एक साम्प्रदायिकता की संकुचित सीमा में बँधा रहेगा, वहाँ दूसरा अपनी व्यापकता और उदारता के साथ मुक्त रहेगा।

रहस्यवाद के इन दो विस्तृत विभागों को लेकर समालोचकों में बड़ा भ्रम फैला है। आचार्य शुक्ल जी ने 'काव्य में रहस्यवाद' नामक प्रबन्ध में रहस्यवाद की विस्तृत विवेचना की है किन्तु इस भ्रम से वे भी नहीं बचे। एक जगह वे लिखते हैं—"किसी अगोचर और अज्ञात के प्रेम में आँसुओं की आकाश—गंगा में तैरने, हृदय की नसों का सितार बजाने, प्रियतम असीम के संग नग्न प्रलय-सा ताण्डव करने या मुँदे नयन पलकों के भीतर किसी रहस्य का सुखमय चित्र देखने" को कविता कहना कहाँ तक ठीक है? उनको इतने ही से संतोष नहीं हुआ वे आगे लिखते हैं—"जो कोई यह कहे कि अज्ञात और अव्यक्त की अनुभूति से हम मतवाले हो रहे हैं, उसे काव्य क्षेत्र से निकल मतवालों साम्प्रदायियों) के बीच अपना हाव-भाव और नृत्य दिखाना चाहिये।" शायद इससे शुक्ल जी का यह आशय है कि काव्य का आलंबन केवल व्यक्त जगत होना चाहिये। रहस्यवाद तथा छायावाद की

यह विवेचना अर्थ शून्य और खटकने वाली है। यदि शुक्ल जी ने दार्शनिक रहस्यवाद पर ऐसे ही आक्षेप किये होते तो सम्भवतः वे किसी तरह खप जाते पर कवि-सम्मत रहस्यवाद की यह आलोचना अजीब सी लगती है। यदि कबीर का रहस्यवाद साम्प्रदायिक है तो तुलसी का उत्तर काण्ड वाला अव्यक्त कहाँ जावेगा। उसमें तो केवल इतना ही अन्तर है कि कबीर ने अव्यक्त को अपने ढंग से व्यक्त किया और तुलसी ने अपने ढंग से। स्वयं शुक्ल जी ने शेली की कविता का उद्धरण देकर स्वाभाविक और सच्ची रहस्य भावना के माधुर्य का ज़ोरदार शब्दों में समर्थन किया है किन्तु जब भारत का कवि प्रसाद गाता है तब वे उसे क्यों नहीं सुन पाते—

ले चल वहाँ भुलावा देकर
मेरे नाविक धीरे धीरे !
जिस निर्जन में सागर लहरी
अंबर के कानों में गहरी
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो
तज कोलाहल की अवनी रे।

इस कविता में उस रहस्यमय नाविक का संकेत मात्र है—व्यक्त रूप के द्वारा अव्यक्त की ओर इशारा मात्र। तब शुक्ल जी को इसमें साम्प्रदायिकता की बू कहाँ से मिल जाती है। अथवा जब महादेवी जी कहती हैं—

"एक करुण अभाव में चिर तृप्ति का संसार संचित,
एक लघु क्षण दे रहा निर्वाण के वरदान शत-शत

पा लिया मैंने किसे इस वेदना के मधुर क्रय में।
कौन तुम मेरे हृदय में।"

यहाँ 'कौन' द्वारा एक रहस्यमय प्रेम पात्र की ओर संकेत है किन्तु वह साम्प्रदायिकता की संकुचित सीमा के परे है। श्री रवीन्द्र की बहुत सी कविताएँ तथा गीताञ्जलि ऐसे रहस्यमय संकेतों से भरी है किन्तु उसकी मधुरिमा तथा रहस्यमयता को सारा संसार एक स्वर से मानता है। काव्य के कई प्रकार हैं जिनके द्वारा रहस्यमयता का उद्बोधन किया जाता है। शुक्ल जी के 'काव्याभास' वाले कबीर ने भी ऐसा किया है—

कहै कबीर ब्याहि चले हैं पुरिस एक अविनाशी।

यहाँ आत्मा परमात्मा में दाम्पत्य प्रेम की भावना है। इसके अलावा जायसी ने एक भिन्न ही प्रकार से अपने काव्य में रहस्यमयता का सुन्दर समावेश किया है। जो हो, हिन्दी संसार में रहस्यवाद के सम्बन्ध में विचित्र विचित्र धारणाएँ व्यक्त की जा रही हैं। शाब्दिक अर्थ के अनुसार रहस्यवादी उस व्यक्ति को कहते हैं—"जिसे ज्ञानातीत सत्य के आध्यात्मिक निरूपण में विश्वास हो।" ईश्वर तथा इस विश्व का सम्बन्ध, इस विश्व की क्रियाशीलता का रहस्य, उसकी उत्पत्ति और उसका विनाश, आदिकाल से मनुष्य को मुग्ध तथा क्षुब्ध किये हैं। इस क्षुब्धता में अशान्ति का आवेश है अतः शान्तिप्रिय नर-समाज इस चिर रहस्यमय गुत्थी के सुलझाने का प्रयास कर रहा है, हमारी ससीम चेतना असीम चेतना की निरंतर खोज करती रहती है। इसी खोज की मधुर अभिव्यक्ति काव्य में रहस्यवाद का रूप धारण करती है।

इसको यों भी कहा जा सकता है कि चिंतनमय दार्शनिक जगत् का अद्वैतवाद भावनामय काव्य जगत् का रहस्यवाद है। यह विषय आज का नहीं बहुत पुराना है गीता का नीचे लिखा श्लोक इसका अच्छा उदाहरण है—

सर्वं भूतेषु येनैकं भावमव्यय मीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्विकम्।

परन्तु यह पहिले बताया जा चुका है कि काव्यगत रहस्यवाद का संबन्ध ज्ञान से न होकर हृदय से है, यद्यपि आधार तथा अन्त दोनों का एक है। दार्शनिक, आत्मा, परमात्मा तथा माया के चिन्तन में लीन होकर उस परोक्ष सत्ता का प्रकाश देखने के लिये लालायित रहता है, भावुकता से दूर शुष्क मस्तिष्क की उलझन में पड़ा रहता है। कवि अपनी भावुकता के सहारे अपने प्रिय मिलन के लिये व्याकुल हो उठता है क्योंकि उसके पास तर्क-वितर्क मयी बुद्धि की उलझन नहीं रहती अस्तु वह अपनी उन परिस्थितियों का जिनसे उसे उस महा मिलन तक जाने में गुज़रना पड़ता है वर्णन करने लगता है। अपनी इस सूक्ष्म भावना को वह केवल मूर्त आधारों द्वारा ही व्यक्त कर सकता है अस्तु उसे रूपकों की शरण लेनी पड़ती है। हिन्दी के आदिम रहस्यवादी कवि कबीर में दोनों तरह के उदाहरण मिलते हैं।

जो चरखा जरि जाय बढ़ैया नाम रै।
मैं कातौं सूत हज़ार चर खुला जनि जरै॥
बाबा मोर ब्याह कराव, अच्छा वरहि तकाय।
जौ लौ अच्छा वर न मिलै तौ लौ तुमहि बिहाय॥

× × ×

कहहि कबीर सुनो हो सन्तो चरखा लखै जो कोय।
जो यह चरखा लखि परै, ताको आवागमन न होय॥

ऊपर की पंक्तियों में रहस्यवाद का दार्शनिक रूप है क्योंकि मूर्त आधारों द्वारा रहस्यमय विचारों को पद्य बद्ध कर देना कवि का काम नहीं है। अतः यदि कबीर ने जटिल रूपक द्वारा कालचक्र (चरखा) उसके निर्माता ईश्वर (बढ़ई) आत्मा तथा गुरु विषयक यह दार्शनिक सिद्धान्त हमारे सामने कविता में रख दिया तो वह रहस्यवादी कवि नहीं हो गये। हाँ इसके विपरीत जब वे भावुकता के साथ अपने भावों की अभिव्यक्ति करते हैं तब हमें उनके काव्यगत रहस्यवाद का सच्चा स्वरूप मिलता है। किसी पाश्चात्य रहस्यवादी कवि का कहना है कि—"मैंने बोलते हुए फूलों को सुना है और चमकती हुई ध्वनियों को देखा है।" इस पंक्ति का लेखक दार्शनिक के साथ कवि भी है। उसी ज्योति का दर्शन जो प्रत्येक फूल में है, उसी वाणी का श्रवण जो प्रत्येक स्वर में व्याप्त है, उसका चरम लक्ष्य है, यद्यपि वह केवल दार्शनिक रह कर भी उसी ज्योति का चिन्तन करता था किन्तु अनुराग-जनित हृदय की आस्था उसमें न थी। वह ईश्वर को बुद्धि द्वारा खोज निकालने की अपेक्षा अपने हृदय की भावुकता द्वारा उससे मिलने को आकुल व्याकुल है। कबीर की ये पंक्तियाँ भी रहस्यवाद की सहज सीमा को छूती है—

माली आवत देख कर कलियाँ करी पुकार।
फूले फूले चुन लिये काल्हि हमारी बार॥

इन पंक्तियों में जीवन मरण सम्बन्धी एक दर्शन के साथ कवि की भावुकता का भी समावेश है और इनके भावों को मूर्त-आधारों की

सहायता से प्रकट किया गया है। अस्तु हम कह सकते हैं कि—" रहस्य-वादी, दार्शनिक तथा कवि का योग ह और दार्शनिक, रहस्यवादी तथा कवि का अन्तर है।" क्योंकि काव्य का रहस्यवाद एक हार्दिक स्थिति है। उसमें तर्क-वितर्क तथा वैज्ञानिक पद्धति का प्रतिपादन नहीं है। हम नित्य ही सान्ध्य नभ में तरह तरह के सुन्दर रंग देखते हैं, उनसे प्रसन्नता प्राप्त करते हैं, परन्तु वास्तव में उनका आधार क्या है, अस्तित्व क्या है ? यह नहीं जानते न जानने की कोशिश ही करते। उनके विश्वास का आधार केवल हमारे संस्कार हैं। अस्तु यह रहस्यवाद भी भावना की एक चैतन्य स्थिति है। आत्म-विकास की सीमा है। आस्था के बिना इसमें प्रवेश असम्भव है। आकाश की अनन्तता का कुछ भी ध्यान न करते हुए मुक्त उड़ने वाली विहगावलियों की भाँति ही इसमें प्रवेश किया जा सकता है। पत्ती का ध्येय आकाश की मुक्त उड़ान है न कि उसकी नाप तोल या छानवीन।

काव्य की इस स्थिति का स्वरूप भिन्न भिन्न रहस्यवादियों ने अपनी मनोवृत्ति के अनुकूल निरूपित किया है। इस विपय में पहुँचे हुए सन्त कवियों के भी अनुभव कहीं कहीं पर परस्पर विरोधी से लगते हैं। ऐसा हमारे देश में तथा संसार के अन्य देशों में भी हुआ है। अँग्रेज़ी कवि वर्डस्वर्थ को दैवी अभिव्यक्ति की चेतना प्रकृति के माध्यम से प्राप्त हुई थी अस्तु वह प्रकृति का उपासक था। वही स्थूल प्रकृति कवि ब्लेक के लिये उस सत्ता के दर्शनों में आवरण सी लगती थी। कवि शेली अलौकिक सौन्दर्य-दर्शन के पहिले नारी रूप की उपासना आवश्यक समझता था उसका विचार था कि मानवात्मा नारी रूप की उपासना

से ही क्रमशः पार्थिव से अपार्थिव की ओर उन्मुख हो सकती है। हमारे यहाँ भी वेद, उपनिषद तथा गीता के रहस्यवाद में भावनात्मक अन्तर है। कबीर और जायसी का अन्तर स्पष्ट ही है। इतना सब होते हुए भी यह बात प्रत्येक रहस्यवादी मानता है कि दैवी स्फूर्ति का आंशिक तत्त्व उसके निर्माण में निहित है, उसी चिनगारी से, प्रकाश की उसी धूमिल रेखा से, उस अखंड ज्योति का वह अनुभव प्राप्त करना चाहता है। जिस प्रकार हम बुद्धि तथा विज्ञान द्वारा भौतिक पदार्थों का निरूपण करते हैं उसी प्रकार अपनी आध्यात्म भावना द्वारा उस रहस्यमय अखंड सत्ता का भी अनुभव तथा निरूपण कर सकते हैं। हाँ बुद्धि और भावना के क्षेत्र अलग अलग है यथा—

यह करनी का भेद है, नाहीं बुद्धि-विचार।
बुद्धि छोड़ करनी करौ, तौ पाओ कुछ सार॥

—कबीर

आत्मा की नित्यता तो मानो रहस्य भावना का आधार स्तम्भ है—

"**न जायते म्रियते वा कदाचन**" अथवा "**न हन्यते हन्यमाने शरीरे**" रहस्यवाद की अद्वैत भावना की परिपुष्टि करते हैं। इस प्रकार की जन्मान्तर प्रवृत्ति संसार के सभी रहस्यवादियों में पायी जाती है। अँग्रेज़ रहस्यवादियों में इसके अपवाद भी हैं। आज का कवि अपनी भाव तन्मयता में गा उठता है—

"**आज वर दो, मुक्ति आवे बन्धनों की कामना ले**"

हाँ तो, हमने देखा है कि साधकों की अनुभूति-भिन्नता में भी समता का एक स्थायी समन्वय रहता है। इस भिन्नता के कई कारण हैं, भाषा

सदैव भावों की अनुगामिनी रहती है। भाषा की कोई भी विकास-सीमा भावों की यथेष्ट अभिव्यञ्जना नहीं कर सकती। यह तो सभी जानते और मानते हैं कि मानव ज्ञान अपूर्ण है, और इसी अपूर्ण ज्ञान के सहारे वह गूढ़ आध्यात्मिक तत्त्वों को जानना और समझना चाहता है। तब उसे अभिव्यक्ति की कमी तो रहेगी ही सम्भवतः इसीलिये रहस्यवादी कवि को प्रतीकों की शरण लेनी पड़ती है। प्रतीकों से अभिव्यक्ति में एक ऐसी सुबोध शक्ति आ जाती है कि उसका स्वरूप सबके सामने प्रत्यक्ष सा हो जाता है। फिर भी अभिव्यक्ति की इस स्थिति में इस भावना का कोई निश्चित रूप नहीं निर्देश किया जा सकता क्योंकि आत्मा को परमात्मा के संयोग तक पहुँचने में न जाने कितनी दशाओं तथा परिस्थितियों से गुजरना होता है। इन्हीं अवस्थाओं में रहस्यवादी अपनी उपासना की शक्ति के अनुसार ईश्वरीय अनुभूति प्राप्त करते हैं। तभी न कोई केवल ईश्वर की अनुभूति करते हैं, कोई केवल ईश्वर को प्यार कर सकने के लायक बनते हैं, कोई अपने को उससे अभिन्न पाते हैं, कोई अपने आराध्य में अधिष्ठापित हो जाते हैं। सेन्ट आगस्टाइन, कबीर, ब्लेक तथा जलालुद्दीन बहुत ही सच्चे रहस्यवादी थे परन्तु उनकी अनुभूतियों की स्थिति में अन्तर है। एक ही व्यक्ति की अनुभूतियाँ भी भिन्न स्वरूप की हो सकती हैं।

रहस्यवाद में जीव इन्द्रिय जगत से बहुत ऊपर उठ जाता है। वह अपनी भावुकतामयी भावना से अनन्त और अन्तिम प्रेम के आधार से एक हो जाना चाहता है क्योंकि मैं, मेरा और मुझे का त्याग रहस्यवाद का एक अति आवश्यक अंग है। हृदय की प्रेममयी भावना साकार

होकर अपनी ससीमता को उस असीमता में विलीन कर देना चाहती है, इसी में उसके हृदय की प्रेम पूर्ति है, यथा सागर से मिल कर एक जल बिन्दु की। यहाँ आत्मा अपनी संसारी सत्ता भूल कर गा उठती है।

मैं सबनि औरनि में हूँ सब,
मेरी बिलगि बिलगि बिलगाई हो।
ना हम बार बूढ़ नाहीं हम
ना हमरे चिलकाई हो।

यह पहिले कहा जा चुका है कि रहस्यवादी को अपनी अभिव्यक्ति के लिये प्रतीकों का सहारा लेना पड़ता है। विषय के अनुसार हमारे प्रतीक भी होने चाहिये क्योंकि पर्वत की अभिव्यक्ति के लिये हम रेलगाड़ी का प्रतीक नहीं ले सकते। इसी प्रकार मधुर भाव की अभिव्यक्ति के लिये हम कटु तथा भावों के विपरीत प्रतीकों द्वारा काम नहीं ले सकते। प्रतीकों में मूल वस्तु की किसी स्थिति विशेष का साम्य तो होना चाहिये। हमारे दैनिक जीवन में दाम्पत्य प्रेम बहुत तीव्र और व्यापक है। हमारे सारे जीवन-क्षेत्र में इसका प्रभाव अनन्य है। वास्तव में इसी पार्थिव प्रेम के विशद मनोधिकार द्वारा किसी अंश में, रहस्य भावमय उस अखंड स्वरूप के दोनों पक्षों संयोग और विप्रलभ की सफल अभिव्यक्ति हो सकती है, अन्यथा हमारे पास उस महामिलन की अभिलाषा एवं आकांक्षा के व्यक्त करने का कोई दूसरा साधन नहीं है। यही कारण है कि कबीर, जायसी, मीरा, दादू आदि सन्तों में इसकी बहुलता है। रागात्मक भावों की अभिव्यक्ति का यही साधन उपयुक्त है। इस पर भी उस अनन्त

ज्योति के साक्षात्कार से प्राप्त सुख की उपमा साधकों ने गूँगे के खाये हुए गुड़ मे दी है। शायद प्राचीन काल में रसगुल्ला का प्रचार न हुआ रहा हो।

प्रत्येक रहस्यवादी को अपने ध्येय तक पहुँचने में तीन परिस्थितियाँ विशेष पार करनी पड़ती हैं।

पहिली परिस्थिति तो वह है जब साधक या कवि अथवा व्यक्ति विशेष अपनी आत्मा के साथ उस अनन्त शक्ति का सम्बन्ध स्थापित करने के लिये उन्मुख होता है। इस स्थिति में उसे भौतिकता से परे उठ जाना पड़ता है उसे साँसारिक, सामाजिक तथा शारीरिक अवरोधों की चिन्ता नहीं रह जाती वह संसार से उदासीन परलोक से प्रीत होता है। आश्चर्य तथा विस्मय ही उसके आधार होते हैं। यह संस्कारहीन सामीप्य की अवस्था है। इस समय जीवन तथा प्राप्त सत्य की विस्मृति सी रहती है। सभी बातों का एक भूला-भूला सा अनुभव होता है।

दूसरी अवस्था वह है जब आत्मा परमात्मा के सहवास अनुभव के सुफल स्वरूप उसे प्यार करने लगती है। इस प्रेम में हृदय की साधारण भावुक स्थिति नहीं रहती यह प्रेम तो अगाध और अबाध होता है। इस प्रेम से लौकिक तथा अलौकिक जीवन में सहज ही एक ऐसा सामञ्जस्य हो जाता है कि उससे अन्तर्जगत तथा बाह्य जगत एक दूसरे से मिल से जाते हैं। प्रेम की एकाग्रता के सिवा और किसी का अस्तित्व ही नहीं रह जाता फिर तो—

गुरु प्रेम का अंक पढ़ाय दिया
अब पढ़ने को कुछ नहिं बाकी।

इस प्रेम की बाढ़ में डूबने उतराने का सुख, बस गूँगे का गुड़ है। इस प्रेम के प्रवाह में सब अन्य भावनायें लीन हो जाती हैं। यथा आकाश के घोर घन गर्जन में घर की चक्की का स्वर समा जाता है।

तीसरी अवस्था रहस्यवाद की चरम साधना की स्थिति है। इस अवस्था में आत्मा तथा परमात्मा की भिन्नता जाती रहती है। आत्मा सहज ही में परमात्मा के गुणों का अपने में आरोपण कर लेती हैं यथा कस्तूरी पात्र स्वयं बिना कस्तूरी के भी सुगन्धित रहता है। 'तज करी तुल औलिया' में भी इसी मत का सुन्दर प्रतिपादन है। उसमें बसरा की स्त्री सन्त राबेआ के विषय में लिखा है – राबेआ ने कहा, "रसूल को मैंने स्वप्न में देखा।" रसूल ने पूछा, "ऐ राबेआ, मुझसे मैत्री रखती हो।" उसने जवाब दिया, "ऐ अल्लाह के रसूल कौन है जो तुमसे मैत्री नहीं रखता, किन्तु ईश्वर के प्रेम ने मुझे ऐसा बाँध लिया है कि उससे अन्य के लिये मेरे हृदय में मित्रता अथवा शत्रुता के लिये स्थान ही नहीं रह गया।"

"रहस्यवाद की यह अनुभूति व्यक्तिगत ही समझना चाहिये। इसका एक कारण है। यह अनुभूति इतनी दिव्य, इतनी अलौकिक होती है कि संसार के शब्दों में उसका स्पष्टीकरण असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। वह कान्ति दिव्य है, अलौकिक है। हम उसे साधारण आँखों से नहीं देख सकते, वह ऐसा गुलाब है जो किसी बाग में नहीं लगाया जा सकता, केवल उसकी सुगन्धि ही पाई जा सकती है। वह ऐसी सरिता है कि हम उसे किसी प्रशान्त वन में नहीं देख सकते वरन् उसे कल-कल नाद करते हुए ही सुन सकते हैं"। इसका आशय यह है कि वह

पावन अनुभूति शब्दों की सीमा में नहीं बँध सकती। साधारण मनुष्य का हृदय भी इतना विशाल नहीं होता कि उसमें यह अलौकिक भाव-राशि समा सके। अस्तु कभी-कभी रहस्यवादी मौन भी धारण कर लेता है उसका उत्तर केवल यही रह जाता है कि—

'नश्वर स्वर से कैसे गाऊँ, आज अनश्वर गीत' अथवा

× × ×

शब्दों के सीमित साधन से
उर के आकुल आराधन से
मन के उद्वेलित भावों का
कैसे रूप बनाऊँ ?

वास्तव में रहस्यवाद की अनुभूति का तत्त्व इतना व्यक्तिगत है कि वह संसार की व्यावहारिक भाषा में व्यक्त नहीं किया जा सकता। हमारे अलौकिक अनुभव तो अलौकिक भाषा में ही सफलता से व्यक्त हो सकते हैं। सुतीक्ष्ण मुनि का भावोन्मादक नृत्य तथा चैतन्य महाप्रभु की भाव-भंगिमा इसके प्रबल प्रमाण हैं। यहाँ पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि रहस्यवादी, कविता ही में क्यों अपने विचारों तथा भावों को प्रकट करना चाहते हैं ? इसका उत्तर एक लेखक ने यों दिया है—" गद्य के अपरिष्कृत विषय को ऐसे रूप में परिवर्तित करने की निराश चेष्टा में जिससे उनकी आवश्यकता की पूर्ति किसी रूप में हो सके, बहुत से (रहस्यवादी) कविता की ओर जाते हैं जो उनके अनुभव के कुछ संकेतों को हीन से हीन पर्याप्त रूप में प्रकाशित कर सके। अपनी कविता की मुग्ध ध्वनि से, उसके अप्रस्तुत रूप से, अपरिमित व्यङ्ग-शक्ति के विलक्षण

गुण से, उसकी लचक से वे प्रयत्न करते हैं कि उसी अनन्त सत्य के कुछ संकेतों को प्रकाशित कर दें जो सदैव सब वस्तुओं में निहित है। ठीक उसी ध्वनि, उसी तेज और उनकी रचनाओं के ठीक उसी उत्कृष्ट नाद से, उस प्रकाश से कुछ किरणें फूट निकलती हैं जो वास्तव में दिव्य है"। इसके अतिरिक्त एक कारण और भी है। प्रेम तथा वेदना एवं करुणा के भावोन्माद प्रायः स्वभावतः पद्य में ही मुखरित होते हैं, अपढ़ देहातियों के ग्राम्यगीत इसी के प्रमाण हैं। सम्भवतः भावों की उल्लासमयी अतिशयता गद्य की अपेक्षा पद्य के अधिक समीप पड़ती है। बहुत सी ऐसी चिड़ियाँ पाई जाती हैं जो किसी विशेष ऋतु में ही बोलती हैं, उनके उस समय की बोली में साधारण दैनिक बोली की अपेक्षा अधिक माधुरी और संगीत तन्मयता रहती है। इसका भी यही कारण है कि उस समय विशेष में वे बहुत ही पुलकित तथा आह्लादित रहती हैं। गद्य शुष्क मस्तिष्क की तथा पद्य भावुक एवं सम्वेदनशील हृदय की भाषा है। इसी कारण से संसार की रहस्यमयी अभिव्यक्तियाँ अधिकतर पद्य में ही पायी जाती हैं। अस्तु

"जब प्रकृति की अनेक रूपता में, परिवर्तनशील विभिन्नता में कवि ने ऐसा तारतम्य खोजने का प्रयास किया जिसका एक छोर किसी असीम चेतन और दूसरा उसके ससीम हृदय में समाया हुआ था तब प्रकृति का एक एक अंश एक अलौकिक व्यक्तित्व लेकर जाग उठा। परन्तु इस सम्बन्ध से मानव हृदय की सारी प्यास न बुझ सकी, क्योंकि मानवीय सम्बन्धों में जब तक अनुराग जनित आत्म विसर्जन का भाव नहीं घुल जाता तब तक वे सरस नहीं हो पाते और जब तक यह मधुरता सीमातीत

नहीं हो जाती तब तक हृदय का अभाव नहीं दूर होता। इसी से इस अनेक रूपता के कारण पर एक मधुरतम व्यक्तित्व का आरोपण कर उसके निकट आत्म-निवेदन कर देना काव्य का दूसरा सोपान बना जिसे रहस्यमय रूप के कारण ही रहस्यवाद का नाम दिया गया।"

इतिहास की भाँति युग के साथ-साथ किसी क्रम विशेष से रहस्यवाद का विकास नहीं हुआ किन्तु देश-काल की परिस्थितियों द्वारा इसके स्वरूप में कुछ परिवर्तन अवश्य हो गया है। "आज गीत में हम जिसे रहस्यवाद के रूप में ग्रहण कर रहे हैं वह इन सब की विशेषताओं से युक्त होने पर भी उन सबसे भिन्न है। उसने परा विद्या की अपार्थिवता ली वेदान्त के अद्वैत की छायामात्र ग्रहण की, लौकिक प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सबको कबीर के सांकेतिक दाम्पत्य-भाव-सूत्र में बाँध कर एक निराले स्नेह-सम्बन्ध की सृष्टि कर डाली जो मनुष्य के हृदय को पूर्ण अवलम्ब दे सका, उसे पार्थिव प्रेम से ऊपर उठा सका तथा मस्तिष्क को हृदयमय और हृदय को मस्तिष्कमय बना सका"। आज के इसी रहस्यवाद पर हमें यहाँ विचार करना है। आज की हमारी काव्य-धारा ने रहस्यमय युक्तियों का क्षेत्र बहुत ही विस्तृत एवं व्यापक कर दिया है। वे केवल परमात्मसत्ता अथवा आध्यात्मिक तत्त्वों में ही बँधी नहीं हैं उनकी अनन्त धारायें हैं। ऐसा होना स्वाभाविक है, क्योंकि आज हमारा अन्तर्जगत ही हमारे लिये सम्पूर्ण संसार है। हम अपने मनोभावों के अंकन को उत्सुक है किन्तु हमारे लिये हमारा सारा जीवन ही एक पहेली है। पग-पग पर उलझनें हैं। इस दृश्य सृष्टि में अनेक तथा अनन्त गति विधियाँ हैं. जिनको हम बिलकुल नहीं जानते। स्वयं

अपनी प्रगति में हम निश्चित एवं नियत कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकते अतः हमने अपनी सारी प्रगतियों में रहस्यमयता का समावेश करना प्रारम्भ कर दिया है। हिन्दी का आदि रहस्यवादी कवि कबीर हुआ है उसके रहस्यवाद और अब के रहस्यवाद में अन्तर है क्योंकि उसका ईश्वर मिलन गूंगे का गुड़ है, जिसकी मिठास का बोध किसी तरह के संकेत से भी नहीं किया जा सकता किन्तु आज के साधक की मिलन माधुरी इस विश्व में अपना कुछ शेष चिन्ह भी छोड़ जाना चाहती है। इसका अर्थ केवल यह है कि अब ईश्वर की भावना अधिक स्पष्ट और सुबोध होती जा रही है। प्रायः धर्म का प्रभाव संसार से जीवन की व्यावहारिकता में उठता सा जाता है, क्योंकि आज मानव ने विज्ञान, चेतना, साधना तथा संयम के बल से ईश्वर के अस्तित्व का अनुभव बहुत ही बोध के साथ कर लिया है। अब ईश्वर हमारे लिये एक आकर्षक तथा रहस्यमय तथ्य नहीं रहा वरन् हम सहज ही में उसके विधान की व्यापक व्यवस्था सम्पूर्ण सृष्टि में देखते और ग्रहण करते हैं। कबीर की रहस्यभावना संतोषमय है हमारी संतोष-असंतोषमय। कबीर ने भौतिकता पर लात मार कर काल्पनिक रहस्यमयता का आश्रय लिया था, हम भौतिकता की असफल कामना से हार मान कर विवशता वश काल्पनिकता का आश्रय लेते हैं। यह विचार धारा पाश्चात्य कवियों से मिली है। कीट्स तथा शेली, दोनों के जीवन दुखद थे, असंतोषपूर्ण थे। समाज के स्वरूप के साथ काव्य का स्वरूप भी बदल जाता है यद्यपि उसका सनातन स्रोत्र भी रहता है यथा ऊँची नीची भूमि में सरिता का प्रवाह अपना रुख बदलते हुए भी अपनी सनातनता

में स्थित रहता है। कवि अपने प्रतिभा के अनुकूल विषयों का चुनाव कर सकता है किन्तु यदि अनुभूति की आभा न हुई तो कवित्व में प्राण नहीं जगते। हमारे विचार हमारे वातावरण के ही सुफल हैं। कवि भी मनुष्य होता है। उसके भी शरीर तथा सभी प्रीति प्रतिमाएँ हैं उसकी सब साधना अन्त में स्वार्थ पर ही जाकर थमती है परन्तु जब यह स्वार्थ ही परमार्थ बन जाता है तभी उसकी चरम सफलता है। एक ही लक्ष्य तक पहुँचने के भिन्न भिन्न साधन हैं। किसी भी व्याधि का निदान कभी एक ही नहीं होता। मनुष्य, जीवन में अनेक बार हार कर भी हार नहीं मानता, वह अपनी भौतिकता की सीमा को काल्पनिक असीमता के रूप में, अपनी सांतता को काल्पनिक अनन्तता के रूप में परिणत करना चाहता है। यह प्रवृत्ति उसकी प्रकृति का एक अनिवार्य अंग है। इस प्रवृत्ति के साथ सफलता पूर्वक जिस काव्यमय भावना का विस्तार मनुष्य करता है उसका रहस्यमय होना निश्चित है क्योंकि वह न तो निरा भौतिक है न काल्पनिक वह तो दोनों का सुन्दर समन्वय है।

मनोवैज्ञानिक रीति से विवेचन करने पर विचार-निर्माण प्रधानतया दो कारणों से होता है। पहिला कारण वाह्य परिस्थिति है, और दूसरा कारण है सहज प्रवृत्ति। बाह्य परिस्थिति का प्रभाव अंशतः सहज प्रवृत्ति पर भी पड़ता है। शान्त और स्वस्थ वातावरण में रहने वाले मनुष्य की आन्तरिक प्रवृत्ति भी प्रायः शान्त और स्वस्थ्य रहती है। हमारी सहज-प्रवृत्ति का सम्बन्ध पूर्व संसकारों से है। जीवन में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जब मनुष्य बाह्य परिस्थितियों की चिन्ता न करके अपनी आन्तरिक सहज-प्रवृत्ति का अनुगमन करता हुआ आगे बढ़ता जाता है।

रहस्यवादी कबीर का जीवन इस बात का उज्ज्वल उदाहरण है। कबीर के जन्म के समय काशी में धर्म का बोलबाला था। साधारण-असाधारण दोनों ही की मूर्ति-पूजा में श्रद्धा थी। आर्य-अनार्य तथा ऊँच नीच का भेद-भाव था। बड़ी कठिनता के साथ कबीर को रामानन्द का शिष्यत्व प्राप्त हुआ। यवन-दम्पत्ति से लालित-पालित कबीर भला उस समय के ब्राह्मण-समाज में कैसे ग्रहण किये जा सकते थे! समाज के दृष्टि कोण से वे पतित थे। दूसरी ओर इस्लाम धर्म की मान्यताओं की कमी तथा रामानन्द के शिष्यत्व के कारण यवन लोग भी असन्तुष्ट थे। ऐसी विकट एवं विषम परिस्थिति में कबीर का इन संसारी झगड़ों से दूर एक व्यापक आध्यात्म मार्ग की खोज की ओर झुकाव होना स्वाभाविक ही था। कबीर की सहज-प्रवृत्ति भी इस ओर सहायक सिद्ध हुई। जीवन के सभी कार्यों, विशेषकर उपासना के क्षेत्र में इन्हीं दोनों कारणों का सदैव प्राधान्य रहा है। देखिये ना, दो एक धर्मों को छोड़कर संसार के सभी धर्मों में एक व्यक्तिगत सत्ता का निरूपण है। उसी परम सत्ता के साथ भक्ति तथा उपासना का विचार भी उत्पन्न हुआ। यही प्रेम और उपासना का विचार भिन्न भिन्न युगों में भिन्न भिन्न मात्रा और रूप में प्रकट होता है। इस उपासना की पहिली सीढ़ी मूर्ति पूजा है। जब मनुष्य भौतिक वस्तुओं को चाहता है, जब उसके लिये केवल विचार-मात्र की कल्पना करना असम्भव होता है तब वह अपनी उपासना को कोई न कोई भौतिक रूप अवश्य दे देता है। उस समय उपासना के निराले ढंग तथा उनके साथ मूर्तियों (संज्ञाओं) का भी जन्म होता है। निर्गुण को इन्हीं संज्ञाओं द्वारा ग्रहण करने की बात का साक्षी विश्व का इतिहास

है। सभी धर्मों में समय-समय पर सुधारक भी हुए हैं पर वे पूर्णतया इन संज्ञाओं को तोड़ नहीं सके क्योंकि मनुष्य जाति का अधिकांश भाग सदैव एक साकार पदार्थ की उपासना करेगा और उसके चारों ओर वह अपने विचारों को केन्द्रित कर सकेगा। इसी कारण बहुत दिनों के संघर्ष के बाद मनुष्य एक संज्ञा के लिये दूसरी संज्ञा खोज लेता है। कहा भी गया है कि प्रतिमा स्वल्प बुद्धिवालों के लिये उचित ही उपादान है। ये संज्ञाएँ आत्मा की प्रथम एवं अधम अवस्था की सहायक हैं। मनुष्य-जाति को हमें एक विशाल प्राणी की भाँति समझना चाहिये जो क्रमशः सत्य-ज्ञान की ओर अग्रसर हो रहा है। उपासना की दूसरी सीढ़ी नाम की उपासना है। उपासना का यह स्वरूप भी सत्य ही है क्योंकि यह संसार स्वयं नाम और आकार के सिवा और क्या है? शब्द और विचार अलग नहीं हो सकते, शब्द अन्तर्भाव हैं, विचार बाह्य। बहुत बार कई पवित्र पुरुषों की पूजा भी की जाती है। यद्यपि परमात्मा सर्वव्यापी है वह सभी पदार्थों में प्रकट होता है पर मनुष्य को वह मनुष्य में ही दिखाई देता है। इस प्रकार के मनुष्य में परमात्मा को जान कर मनुष्य ने उसकी उपासना की है और यह उसकी प्रकृति के अनुरूप ही है। मनुष्य जब कभी परमात्मा की कल्पना करेगा तभी उसे मनुष्य होने के नाते परमात्मा की कल्पना मनुष्य के समान ही करनी पड़ेगी। उपासना के यह बाहरी स्वरूप हैं। किसी भी मनुष्य को बाह्य परिस्थितियों के फल स्वरूप यही उपासना की पद्धतियाँ मिलती हैं। मानव-बुद्धि पहिले निसर्गतः सुगम साधनों से ही अपना काम निकालने की सोचती है। फलतः प्राचीन आर्य साधकों ने भी प्रत्यक्ष साधन कर्म आदि से ही एकांत आत्म-श्रेय

की बात सोची। परन्तु इन बाह्य साधनों से जब काम न चला तब आभ्यन्तर साधनों की ओर उसका झुकाव हुआ । काव्य का रहस्यवाद इसी का परिणाम है। शाश्वत तत्व सम्बन्धी अनुभूत्यात्मक उद्‍गार ही इसका आधार स्तम्भ हैं। आभ्यन्तरिक साधनों का प्रथम आधार तत्व ' अहम् ' है। ' मैं ' के अस्तित्व में कोई भी सन्देह नहीं करता। हाँ सन्देह केवल ' मैं ' को छोड़ कर और क्या है में है। संसार के सारे पदार्थों तथा विचारों का बोध हमें इसी ' अहम् ' द्वारा होता है। इन्द्रियों की सहायता से यह ' अहम् ' अपने चारों ओर एक वाह्य संसार का निर्माण करता है। यह ' अहम् ' वा आत्मा ही ज्ञाता है और जो कुछ वह जानती है वही ज्ञेय है। अतएव प्रत्यक्ष जगत् या बाह्य जगत् केवल आत्मा के आभ्यन्तरिक जगत् का एक स्तर मात्र है। अस्तु जिसे हम प्रत्यक्ष देखते हैं वह सत्य जगत् नहीं हैं - वह हमारे भीतर ही सीमाबद्ध है। इसी प्रकार वस्तु का भी अस्तित्व सन्देह जनक है यदि इसका अस्तित्व निश्चय होता तो दूर की तथा नज़दीक की वस्तु में भिन्नता का बोध न होता। अतएव अपनी-अपनी अनुभूतियों के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति स्वकल्पित जगत् का अधिकारी है। एक व्यक्ति का जगत् दूसरे व्यक्ति के जगत् से सर्वथा भिन्न है। अमित धन का उपयोग एक व्यक्ति विश्वकल्याण की भावना में करना चाहता है दूसरा उसको अपने विलास का साधन समझता है।

जीवन-पथ में आगे बढ़ते हुये हम सदैव इन्द्रिय-ग्राह्य जगत् में एक परिवर्तन पाते जाते हैं। क्या वास्तव में जगत् की प्रकृति ही बदल रही है ! यह बात नहीं है। हम स्वयं जिन उपादानों से निर्मित हैं वे स्वयं

अपने गुण तथा धर्म को छोड़ रहे हैं, फलतः वाह्य जगत हमें परिवर्तित सा प्रतीत होता है। बाल्य तथा यौवन की रुचि वार्द्धक्य में स्वतः बदल जाती है। सत्य का यह स्वरूप नहीं है। जो सत्य है वह स्थायी है, उसका परिवर्तन नहीं होता है। अस्तु जब मन के परिवर्तन के साथ आत्मा की अनुभूतियों का सम्बन्ध न रहेगा तभी सत्य का साक्षात्कार सम्भव हो सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वास्तव जगत् की जिन अनुभूतियों को हम यथार्थ मानते हैं वे सब आपेक्षिक ग्रहण मात्र हैं। यही प्रत्यक्ष वादियों का भ्रम है। अब भाववादियों की विवेचना कीजिये। वे इन्द्रि-यानुभूति को दूर हटाकर भाव को ही महत्ता देते हैं। वे केवल चेतन ज्ञाता तथा उस ज्ञाता का भाव-रूप ज्ञेय को मानते हैं। उनके मत के अनुसार मन और मन की क्रिया भाव तथा ज्ञान के अतिरिक्त और संसार में कुछ नहीं है। यह जगत् मानसिक चित्रों के सिवा और है ही क्या! मनुष्य अपने भाव एवं ज्ञान के सहारे शाश्वत सत्य की उपलब्धि करता है। यही भाव विज्ञान, दर्शन तथा कला की भिन्नता को दूर कर अलौकिक जगत् की स्थापना करता है। अति साधारण मानव-जीवन में भी कुछ ऐसी अनुभूतियों का पता चलता है जिनकी विज्ञान सम्मत व्याख्या करना असम्भव होता है। ऐसी अनुभूतियाँ केवल विश्वास से ग्रहण की जाती हैं। विश्वास ही जीवन का प्रधान अंग है और यही उपासना तथा आस्था का आधार है। मानव-हृदय में इसका मूल निश्चित रूप से निहित है। असभ्य तथा अधम अवस्था में यह लौकिक सुविधा का साधन था किन्तु सभ्यता के विकास के साथ साथ यह सूक्ष्म भावों से पूर्ण अलौकिक ज्ञान में परिणत हो रहा है।

संगीत तथा काव्य की लय एवं सौन्दर्य की आकुल अनुभूतियाँ हमें विस्मय, सम्भ्रम तथा आनन्द से विभोर कर देती हैं। इन अनुभूतियों की उद्भावना क्यों होती है? यह कहना कठिन है। प्राकृतिक तथा मानवीय सौन्दर्य से मनुष्य अनेक बार इतना मुग्ध हो जाता है कि उसे आत्म विस्मृति तक हो जाती है। पर्वत, सागर और चन्द्र को देखकर मन में एक आनन्द का उद्वेलन होने लगता है किन्तु यथार्थतः विचार करने पर यह क्रमशः पाषाण समूह, जलराशि तथा ग्रह के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। गुलाब का फूल वर्णयुक्त पत्रों की एक परिणत मात्र है पर उसमें मनोमुग्धता का समावेश है। सौन्दर्य-विहीन कृष्ण-वर्ण कोयल के स्वर में मधुरता का कितना अनुभव निहित है। यह सभी जानते हैं। इन सभी समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता। सौन्दर्य का रहस्य अभी तक स्पष्टतया उद्घाटित नहीं हुआ। सौन्दर्य के संदेशे तो हम पाते हैं पर भेजने वाले का पता तथा स्वरूप अब भी हमारी खोज का विषय है। यहीं हमें अपनी आत्मा की उस अनुभूति का परिचय मिलता है जिसे रहस्यवाद कहा जाता है। इस अनुभूति का प्रथम चरण सत्य का अनुसंधान करना है और द्वितीय चरण आत्मा स्वयं सत्य है की धारणा पर पूर्ण विश्वास करना है। इन्हीं दोनों चरणों के आधार पर रहस्यवादियों की आध्यात्मिक जीवन यात्रा निर्भर है। इसी से कहा जाता है कि देवो भूत्वा देवमर्चयेत्। इस विश्लेषण से हम सहज ही में यह समझ सकते हैं कि रहस्यवाद आत्मा का विषय है, ऐसे काव्य में आत्मा की आकुलता का ही आभास मिलता है। इसका सम्बन्ध सीधा वस्तु-विधान से रहता है, अभिव्यञ्जन विधान से नहीं। यथा —

पानी ही तै हिम भया, हिम भी गया विलाय

जो कुछ था सोई भया, अब कुछ कहा न जाय !

इस युक्ति में 'अहम्' और 'परम' की अभिन्नता बड़ी दृढ़ता एवं विश्वास के साथ प्रति पादित है। 'हिम' और 'पानी' की तत्वतः एक रूपता से (वस्तु विधान से) उसका आभास दिया गया है। और भी—

भरा नयनों में मन में रूप

किसी छलिया का अमल अनूप

जल, थल, मारुत व्योम में जो छाया है सब ओर,

खोज-खोज कर खो गई मैं. पागल प्रेम विभोर।

यहाँ खोजता-खोजता अहम् स्वयं अहम् नहीं रह जाता। यह भाव कबीर की इस रहस्यमयी युक्ति तक पहुँच जाता है कि—

'तू' 'तू' कहता 'तू' भया मुझ में रही न मैं।

यही साधक तथा साध्य का एकीकरण है। इसी प्रकार—

हाँ सखि आओ बाँह खोल हम

लग कर गले जुड़ाले प्राण,

फिर तुम तम में मैं प्रियतम में

हो जावे द्रुत अन्तर्धान।

यह साधक की औत्सुक्य पूर्ण तड़पन है। विश्व के रहस्य को विदीर्ण करने का प्रयास कवि की आत्मा को है। इसका उदाहरण नीचे की पंक्तियों में बहुत सुन्दर मिलता है—

फिर विकल है प्राण मेरे

तोड़ दो यह क्षितिज मैं भी

देख लूँ उस ओर क्या है ?
जा रहे जिस पंथ से युग
कल्प उसका छोर क्या है
क्यों मुझे प्राचीर बनकर
आज मेरे श्वास घेरे ?

कबीर ने भी गाया था—

जा मरने से जग डरे, मोहि परम आनन्द ।
कब मरिहौ कब पाइहौं पूरन परमानन्द ।

सारांशतः सभ्य जगत् की नाना जातियों में सभी समयों में कुछ ऐसे साधक थे जो अलौकिक सत्य की खोज में निरत रहते थे। उनकी चिंतन प्रणाली जन साधारण से भिन्न होती है। प्रत्यक्ष जगत् के बोध तथा प्रमाण से इस आध्यात्मिक जगत की तुलना करना व्यर्थ है क्योंकि—

केशव कहि न जाय का कहिये ।
देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहि मन रहिये ।

हाँ इस रहस्यमयता को समझने के भिन्न-भिन्न माध्यम साधकों ने सोचे हैं। इस चिंतन-प्रणाली के अनुसार साधकों की कुछ कोटियाँ भी निर्धारित की गई हैं।

क—प्रेम और सौन्दर्य सम्बन्धी रहस्यवादी
ख—दार्शनिक रहस्यवादी
ग—धार्मिक तथा उपासक रहस्यवादी
घ—प्रकृति सम्बन्धी रहस्यवादी

इस प्रकार अपनी-अपनी भावनाओं के अनुकूल उपायों से मनुष्य उस परम सत्य तक पहुँचने का प्रयास करता है। यह गुण उसकी आत्मा का है न कि विषय तथा पथ का क्योंकि—

नैषा तर्केण मतिरापनेया।

आनन्द मय आत्मा की प्राप्ति तर्कों से नहीं होती है। वहाँ तो -

'आज जीवन में किसी के खोज की ले चाह अविचल',

चलना पड़ता है। आगे आलोक अवश्य ही उद्भाषित होगा। इन कोटियों के अनुसार प्रथम कोटि में प्राचीन कवियों में कबीर तथा जायसी का नाम उल्लेखनीय है। कबीर का यह पद्य तो प्रेम और सौन्दर्य का मानो प्रत्यक्ष रूप है—

नयनन की करि कोठरी पुतली पलंग बिछाय
पलकन की चिक डारि के पिय को लीन्ह बिठाय

आज का रहस्यवादी कवि अपने को किसी भी एक कोटि में नहीं बाँध पाता क्योंकि उसका तो निश्चय है कि—

मैं सजग चिर साधना ले।
सजग प्रहरी से निरन्तर.
जागते अलि रोम निर्भर
निमिष के बुद्बुद् मिटाकर
एक रस है समय सागर
हो गई आराध्यमय मैं विरह की आराधना ले!

दूसरी कोटि में अंग्रेजी कवि ब्लेक तथा ब्राउनिङ्ग का नाम लिया जा सकता है तुलसी तथा सूर के भी कुछ पद्य इसी कोटि के हैं। आधुनिक

कवियों में श्री निराला जी का नाम भी हम इसी कोटि में रखेंगे। श्री प्रसाद तथा श्री माखन लाल जी की भी कुछ अभिव्यक्तियाँ इसी श्रेणी की हैं। यथा—

चहकते नयनों में जो प्राण।
कौन किस दुख-जीवन के गान?
द्रुत मखमल-भखमल लहरों पर,
वीणा के तारों के से स्वर,
क्या मन के चल-दल पत्रों पर
अविनश्वर आह्वान?
जग जीवन की कौन प्यास यह,
शरत् शिशिर, ऋतु में विकास यह
रे चिरकालिक हास, हास यह
विस्मय सञ्चय ज्ञान?
सिक्त बीज, भर उगा विटप नव,
लिपटी यौवन लता, पराभव
मान, उभय सुख जीवन कलरव
मिले ज्योति औ ज्ञान।

तीसरी कोटि में मीरा तथा निर्गुणवादी कवि आते हैं। इसका आधार, एकान्त उपासना मात्र है यथा—

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई।
दूसरा न कोई साधो सकल लोक जोई।

अब तो बात फैल पड़ी जाणै सब कोई।
मीरा प्रभु लगण लागी होनी होय सो होई।

तुलसी का—'सिया राममय सब जग जानी' वाला पद भी इसी कोटि का है। चौथी कोटि में अंग्रेजी कवि वर्डस्वर्थ तथा हिन्दी कवि श्री पन्त भी इसी श्रेणी के हैं यथा—

मिले तुम राका पति में आज
पहन मेरे दृग-जल का हार,
बना हूँ मैं चकोर इस बार
बहाता हूँ अविरल जलधार
नहीं फिर भी तो आती लाज
निठुर यह भी कैसा अभिमान!
याद है क्या न प्रात की बात
खिले थे जब तुम बनकर फूल,
भ्रमर बन प्राण लगाने धूल
पास आया मैं चुपके शूल
चुभाये तुमने मेरे गात..
निठुर यह भी कैसा अभिमान!

इन कवियों के अतिरिक्त आज हमें ऐसे भी रहस्यवादी कवियों का पता मिलता है जो रहस्यवाद की सम्पूर्ण अभिव्यक्तियों को अपनी साधना के स्वरूप अपने में सँजोये हैं। जिनका काम केवल रहस्यवादी काव्य लिखना ही नहीं वरन उन भावनाओं में रहना भी है। शायद इस काव्य

का यही सर्व श्रेष्ठ स्वरूप है। ऐसे साधकों में शुभ श्री महादेवी जी का नाम स्मरणीय है। अन्य कवियों की भाँति रहस्य भावना का छुट पुट प्रादुर्भाव उनके काव्य में नहीं हुआ वरन् उनकी इस काव्य भावना का सुन्दर क्रमिक विकास उनकी कृतियों में सन्निहित है। यहं उनके जीवन की साधना है। उनके आत्म समर्पण का प्रकाश है। उनके सम्पूर्ण काव्य में उनके अन्तःकरण की स्फूर्ति और उनकी आत्मा के आनन्द की तन्मयता है तभी न वे आज भी मुक्त कंठ से कह पाती हैं—

सखि मैं हूँ अमर सुहाग भरी !
प्रिय के अनन्त अनुराग भरी ?
किसको त्यागूँ किसको माँगूँ,
हैं एक मुझे मधुमय विषमय;
मेरे पद छूते ही होते,
काँटे कलियाँ प्रस्तर रसमय !
पालूँ जग का अभिशाप कहाँ
प्रतिरोमो में पुलकें लहरीं !
जिसको पथ शूलों का भय हो,
वह खोजे नित निर्जन गह्वर;
प्रिय के सन्देशों के वाहक,
मैं सुख-दुख भेटूँगी भुजभर;
मेरी लघु पलकों से छलकी
इस कण-कण में ममता बिखरी !

उनके सम्पूर्ण काव्य का प्राण ही रहस्यवाद है। हिन्दी के अन्य कवि जो प्रायः रहस्यवादी कहे जाते हैं, वे सम्पूर्णतः रहस्यवादी हैं नहीं। प्रसाद जी अवश्य ही एक दार्शनिक वृत्ति के कवि हैं। कहीं-कहीं उन्होंने रहस्य-भावना के अच्छे-अच्छे चित्र चित्रित किये हैं। निराला जी की भाव व्यञ्जना बहुत ही सुन्दर है, किन्तु उनके काव्य में भावनाओं का एक नैराशिक समीकरण पाया जाता है। पन्त जी प्रकृति एवं विस्मय के कवि हैं। उनका काव्य-क्षेत्र सदैव से परिवर्तनशील तथा कुछ अस्थिर सा रहा है। आज वे एक समाजवादी कवि के रूप में संसार के सामने उपस्थित हुये हैं। अस्तु हम स्पष्टतया कह सकते हैं कि वर्तमान कवियों में सम्पूर्णतः रहस्यवाद की भावना की व्यञ्जना शुभ श्री महादेवी जी में मिलती है। इसका कारण भी है। कबीर तथा अन्य भक्त कवियों ने राम की बहुरिया बनकर अपने प्रेम-भाव की व्यञ्जना की है पर माधुर्य भाव की जैसी व्यञ्जना प्राचीन काल से आज तक स्त्री भक्तों द्वारा हुई है वैसी पुरुषों द्वारा नहीं। पुरुषों के मुँह से वह एक नाटक-प्रणाली मात्र प्रतीत होती है। शायद पुरुषों में, वैसा स्वाभाविक भोलापन, वैसी सुकुमार कोमलता तथा प्रेम की वैसी मार्मिकता नहीं आ सकती क्योंकि समर्पण नारी की ही मूल प्रकृति है। विश्वास एवं श्रद्धा उसके जीवन के अमृत हैं। स्नेह के लिये सब कुछ दे देना उसका सहज लक्षण है। उसके इस आत्म त्याग में किसी प्रकार की लाचारी नहीं रहती क्योंकि दासता तो आत्म-विस्मरण है किन्तु समर्पण आत्मोपलब्धि है, निजत्व-परत्व का यहीं अन्त होता है।

वास्तव में काव्य तथा प्रेम दोनों नारी-हृदय की ही अपनी चीज़ें हैं।

काव्य की कोमलता तथा भावुकता का अधिकारी केवल नारी हृदय है, विशेष कर प्रेमात्मक काव्य तो उसका सर्वस्व है। स्नेहात्मक अनुभूतियों की उद्भावना जितनी देवियों में सम्भव है पुरुषों में उतनी नहीं। सम्भवतः इसीलिये मीरा तथा महादेवी के साथ इस माधुर्य-भाव पूर्ण काव्य में किसी दूसरे कवि का नाम नहीं लिया जा सकता है अन्यत्र कहाँ है इतनी तन्मयता—

आकुलता ही आज
हो गई तन्मय राधा,
विरह बना आराध्य
द्वैत क्या कैसी बाधा ?
खोना पाना हुवा जीत वे हारे ही हैं !

सिंहावलोकन

साहित्य के स्वरूप के बारे में आधुनिक संसार में मत भेदों का अन्त नहीं है। विशेषकर हम भारतीय तो पराधीनता की विषम-उलझनों में फँसकर और भी दिशाहीन हो रहे हैं। आज हम जिसके आधीन हैं, उसके शौर्य, वीर्य को देखकर, उसके आचार-विचार तथा रहन-सहन का भी अनुकरण करने लगे हैं। इस प्रकार हमने राजनीतिक एवं सामाजिक पराधीनता में पलकर अपना सर्वस्व खो दिया है। जीवन की ऐसी पराधीनता हमारे सभी अंगों में परिव्याप्त है। हमारा साहित्य भी इसी का शिकार है। देश में एक वर्ग ऐसा भी है जो अपने पुराने संस्कार तथा अपनी भारतीयता की ओट में विदेशी बातों की तरफ से, चाहे वह उत्तम ही क्यों न हों एक दम मुँह मोड़े रहता है। उनकी दशा बेचारे कछुए की भाँति है, जो अपनी कठिन पीठ के नीचे अपने कोमल अंगों को छिपा कर अपने को किसी भी वाह्य आघात से सुरक्षित समझता है। जो भी हो प्रथम वर्ग के ही लोगों द्वारा हमारी अधिक हानि हुई है क्योंकि राजनीतिक पराधीनता की अपेक्षा सामाजिक तथा मानसिक पराधीनता अधिक भयावह होती है। इस समय हमारे देश के बहुतेरे प्रगतिशील, विद्वान एवं देश प्रेमी लोग भारतीय आदर्शों की अनुभूत मान्यता को

भी छोड़कर योरूपीय अनुकरण में आकुल हैं। वे समाज, साहित्य तथा जीवन को केवल विदेशी स्वरूप देने को उत्सुक हैं क्योंकि उनका विचार है कि मानवता का उसी में कल्याण है। इस विषय में मेरा विचार है कि "संत-हंस गुण गहँहि पय, परिहर बारि विकार", वाली नीति ही का उपयोग करना चाहिये।

वर्तमान अवस्था में प्रत्येक भारतीय समझदार साहित्यिक के हृदय में अनेक प्रकार के प्रश्न उठना स्वाभाविक है। एक महान सभ्यता तथा संस्कृति एवं साहित्य के उत्तराधिकारी होते हुए भी हम इस हीनावस्था में क्यों हैं? अन्य राष्ट्र स्वतंत्र और हम परतंत्र क्यों हैं? संसार का आर्थिक संगठन एकाँगी क्यों है? हमारा भी मन इन सभी प्रश्नों का उत्तर खोजना चाहता है, साहित्य के पन्नों में भी हम इसका समाधान चाहते हैं। वास्तव में जीवन से सीधा सम्बन्ध रखने वाले इन महान् प्रश्नों का हल हमें अपने साहित्य में पाना ही चाहिये। समय और समाज की इस क्षुधा को हम कब तक अतृप्त रख सकते हैं? इसके उत्तर में हमें अपने साहित्य तथा साहित्यकारों से कोई एक निश्चित समाधान नहीं मिलता, कोई कुछ और कोई कुछ कहता है। साहित्य की इस मनोवृति का विचार बड़ी गम्भीरता से करना आवश्यक है। साहित्य का जीवन से कोई सम्बन्ध है अथवा नहीं? साहित्य से समाज का क्या लगाव है? कला क्या है और उसका वास्तविक उपयोग क्या है? हमारी सामयिक परिस्थितियों में साहित्य से क्या सहायता मिलती है?

संसार की किसी भी अभिव्यक्ति का आधार जीवन है। साहित्य का भी आधार जीवन है। जीवन के सुख-दुख मयी विभिन्न अवस्थाओं का

विवेचन तथा स्वरूप निरूपण साहित्य का क्षेत्र है, इस क्षेत्र में जीवन व्यापी प्रतिदिन के मानसिक तथा शारीरिक संघर्षों का स्पष्टीकरण ही कला है। कला इसलिये जीवन है, सत्य है और शाश्वत है। कलाकार भौतिक तत्त्वों को अपना आधार बनाकर अपनी आत्मानुभूति से अपने सुन्दर आदर्शों तथा सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है। उसके इस प्रतिपादन में उसकी आन्तरिक प्रेरणाओं की सत्यता तथा उसकी उस समय की वस्तुस्थिति का निदर्शन रहता है। इसी कारण कोई भी कला, जीवन तथा वस्तुस्थिति की अवहेलना करके सफल नहीं हो सकती है। कला में एक विशेषता और है, वह है कलाकार के साधनाशील व्यक्तित्व की आभा, किन्तु जब यह व्यक्तित्व जीवन की अनुभूत मान्यताओं के विरुद्ध जाता है तब उसकी कला कागज़ के बने फूलों की भाँति प्राण-विहीन हो जाती है। कला का प्रयोजन क्या है, यह प्रश्न कोई नया नहीं है, इस प्रश्न पर प्राचीन काल से चर्चा होती आ रही है। 'काव्यं यश से, अर्थकृते, व्यवहारविदे, शिवेतरक्षतये' आदि अनेक प्रयोजन प्राचीन आचार्यों ने लिखे हैं। इनमें से बहुत से प्रयोजन आज भी मान्य हैं। यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से आज का युग इस बात को स्वीकार नहीं करता और प्राचीन युग की कला की मोक्षदायिनी शक्ति पर भी सन्देह करता है। आज के युग का कहना है कि जीवन के समस्त रहस्य तथा जीवन के सभी अंगों को प्रस्फुटित करने की कला में क्षमता होनी चाहिये। आज की कला के सभी प्रयोजनों पर थोड़ा सा विचार करना चाहिये।

समाज की भाँति साहित्य में भी कुछ रूढ़ियाँ बनती जा रही हैं, उनकी परिगणना इस प्रकार है :—

क—कला कला के लिये

ख—कला जीवन के लिये

ग—कला जीवन की वास्तविकता से बचने के लिये

घ—कला जीवन के आनन्द की उपलब्धि के साधन के लिये

च—कला मानवता की सेवा के लिये

छ—कला आत्मानुभूति के लिये

ज—कला केवल आनन्द के लिये

प—कला मनोरंजन के लिये

स—सृजन प्रवृति की पूर्ति के लिये

संक्षेप में कला के यही उपर्युक्त प्रयोजनों की पुकार है। कुछ लोग एक प्रयोजन का प्रतिपादन करते हैं तो कुछ लोग दूसरे प्रयोजन का, यही आपस की विभेद रेखा है।

इन सभी प्रयोजनों की वाह्य विषमता में भी एक आन्तरिक समता समाहित है। वह है जीवन से उसका सम्बन्ध। हाँ जो यह मानते हैं कि कला जीवन की नीरस संघर्ष-शीलता से बचने के लिये है, उनको जीवन का बहुत ही कटु अनुभव होगा इसमें सन्देह नहीं। उनसे हमें केवल यही कहना है कि वे किसी भी रूप में जीवन से अलग नहीं हो सकते, स्वरूप में चाहे परिवर्तन भले ही हो जाय पर उसका मूल तत्व कहीं नहीं मिटाया जा सकता इसी से तो उसका नाम जीवन है। जीवन का संघर्ष ही तो उसका आनन्द है जो कुछ चाहिये शीघ्र मिलता जाय तो मनुष्य का जीना भी कठिन हो जाय। तृप्ति प्राप्त के प्रयत्नों का ही नाम जीवन है, अतएव इच्छा की तृप्ति तो जीवन का अन्त ही कर देगी। ऐसे लोगों

को चाहिये कि जीवन से भगने की अपेक्षा उसमें प्रवेश करे तभी उनको शान्ति भी मिल सकेगी। शेष कला के सभी प्रयोजनों की आवश्यकता मानी जा सकती है। हाँ इतना याद रखना चाहिये कि कला में मनोरंजन तथा विनोद तो है ही पर यह उसका एक प्रत्यक्ष लाभ है, यह उसका अन्तिम प्रयोजन नहीं है। साहित्य में सामयिक चर्चा दो प्रयोजनों को लेकर विशेष रूप से चलती है। यहाँ हम उन्हीं पर कुछ विस्तार से विचार करेंगे। वे हैं—१ कला कला के लिये २ कला जीवन के लिये। यद्यपि ये दोनों प्रयोजन भी अपनी मार्मिकता में एक ही हैं फिर भी इनकी विषमता भी काफी व्यापक बन गई है।

'एकोऽहंबहुस्याम' की एक आकांक्षा सब में होती है, इसको तृप्त करने के लिये मानव-हृदय जिन गूढ़ और उत्कट भावों की अभिव्यक्ति करता है उसका प्रयोजन उसी अभिव्यक्ति में निहित रहता है यथा बादलों में जल। ऐसे लोग केवल कला के लिये कला की उपासना कर सकते हैं। सूर्य का प्रकाश स्वयं उसका गुण है, कमल-दल अपने आप उससे पुलकित होता है। यद्यपि ऐसे लोग कम होते हैं। एक बार एक विद्यार्थी कक्षा में बैठा पढ़ रहा था। अध्यापक अपने अध्यापन में लीन था। विद्यार्थी को अचानक हँसी आ गई, उस पर अध्यापक महोदय बहुत बिगड़े किन्तु विद्यार्थी के उत्तर से वे शान्त हो गये। विद्यार्थी ने कहा—महोदय क्षमा कीजिये मैं स्वयं हँसना नहीं चाहता था किन्तु हँसी बरबस मेरे मुख से एक निर्झर की भाँति फूट पड़ी मैं क्या करता। इस प्रकार की कला को हम भी कला कला के लिये कह सकते हैं। आपत्ति तो केवल तब होती है जब कलाकार अपनी विकृत विलासिता के लिये कला

का उपयोग करके उसे कला कला के लिये की संज्ञा देता है। ऐसे लोगों की संख्या कम नहीं है इसी कारण इसका विरोध भी करना पड़ता है। कला की अभिव्यक्ति केवल कला के लिये होकर भी जीवन की शुद्धता तथा संस्कारिता से रहित नहीं हो सकती है। जीवन की इस अर्थपूर्णता के साथ कलाकार का वैषम्य उसकी कला को निश्चय निष्प्राण कर देगा।

कला इस हँसते रोते विश्व से अपनी संज्ञा पृथक् नहीं कर सकती है। उसका अस्तित्व केवल कागज़ के पन्नों में ही नहीं है कि जो मन में आया लिख दिया, उसको मनुष्य पढ़ता, सुनता तथा मनन करता है क्योंकि जिस प्रकार मनुष्य अपने शरीर में एक व्यापक जीवन को लेकर संसार तथा समाज के सामने आता है उसी प्रकार कला-कृति भी अपने आकार में जीवन लेकर हमारे सामने उपस्थित होती है। अस्तु जब कला हमारे सामने आकर हमारे कान, मन, वाणी में प्रवेश करती है तब उसका जीवन से किसी प्रकार भी विच्छेद सम्भव नहीं है। यदि उसको एक प्रदर्शन की भी वस्तु मान लिया जाय तो भी जीवन की चेतना अपेक्षित है। चेतना से ही तो जीवन बनता है। चेतना-शून्य पाषाण के सम्मुख किसी भी प्रदर्शन का क्या मूल्य है? अस्तु चेतना विहीन मानव शरीर की भाँति जीवन से रहित कला भी शववत हो जावेगी। मेरे इस विश्लेषण का अर्थ यह नहीं कि कला कला के लिये सभी अंशों तथा अर्थों में व्यर्थ है क्योंकि जहाँ तक कला की स्वाधीनता, उसकी अपनी चेतना तथा रूढ़ियों से आगे चलने की बात है वहाँ तक मैं स्वयं कला कला के लिये का समर्थक हूँ। कला कला के लिये है, सामयिक

आन्दोलनों के लिये नहीं। कला अपनी स्वतंत्रता एवं अपनी सात्विक सत्ता को समेट कर ही अपना विकास कर सकती है, उसमें नित्य नूतन कुशलता की कल्पना के बिना वह कला नहीं रह जावेगी। कला साध्य नहीं साधन है, आराध्य नहीं आराधन है। साध्य या आराध्य तो जीवन है, जिसे प्राणी मात्र अनेक प्रकार से प्राप्त करने का प्रयत्न अनादि काल से करता चला आया है। कला भी एक प्रकार है इस प्रकार को सुन्दर तथा मनोरम बनाने में ही कला की सार्थकता है।

कला जीवन के लिये ठीक ही है क्योंकि जीवधारी की कोई भी कृति जीवन से बाहर नहीं जा सकती है। जीवन शब्द बहुत सारगर्भित एवं व्यापक है। इसका सीमित अर्थ ग्रहण करने से भ्रम में पड़ जाना पड़ता है। जीवन तो मानवता की तरह विस्तृत तथा आत्मा की तरह व्यापक है। इसी अर्थ में कला जीवन के लिये, का महत्व है।

जिन बातों की चर्चा हम ऊपर कर आये हैं उनका अधिकतर सम्बन्ध योरुप से है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में फ्रेन्च साहित्यकार ज़ोला ने कला कला के लिये, की घोषणा की थी। ज़ोला के बाद इब्सन तथा जार्ज मूर भी इस क्षेत्र में आये। कला कला के लिये है, इसी सिद्धान्त में उन्हें शुद्ध यथार्थवाद दिखायी पड़ा। उनकी समझ से स्थिति को बिना किसी नैतिकता के स्पष्ट नग्न रूप में रख देना ही यथार्थवाद है। उनका मत था—सत्य—नग्न सत्य का निरूपण। भारत तो सदैव इसके विरूद्ध था। टेनीसन ने भी इसका विरोध किया था " मैं वर्डसवर्थ से सहमत हूँ कि विशिष्ट संकलन ही कला है। ज़ोला को देखो, वह संसार की बुराइयों को चित्रित कर देता है किन्तु आदर्श

क्या है इस पर चुप रहता है। इसीलिये उसकी कला एक भयानक वस्तु बन जाती है। वह यह नहीं देखती कि किस वस्तु को चित्रित करना चाहिये, किसको नहीं। बड़ी सी बड़ी मस्तिष्क-शक्तिवालों में भी संयम की आवश्यकता है।"

इन सभी दृष्टिकोणों के बाद हम साहित्य को दो विस्तृत भागों में विभाजित कर सकते हैं :—

१—संघर्ष का साहित्य।

२—संघर्ष विमुख साहित्य।

जीवन के दैनिक संग्राम से विमुख रहने वाला साहित्य ही संघर्ष-विमुख साहित्य है। जो साहित्य जीवन की प्रतिदिन की विषम परिस्थितियों का बोझ लेकर चलता है और इसके संग्राम के प्रहारों तथा आघातों का स्वागत करता है वही संघर्ष का साहित्य है। इस संघर्ष साहित्य के भी दो भाग हैं :—

१—यथार्थवादी साहित्य।

२—आदर्शवादी साहित्य।

आदर्शवादी साहित्य संघर्ष का सुखद तथा विजयी परिणाम चित्रित करता है। वास्तव में यह एक सामयिकता के साथ सनातन साहित्य है, क्योंकि आदर्शवादी साहित्य सदैव वर्तमान जीवन के कटु अनुभवों का सामञ्जस्य जीवन के आशातीत सुखद क्षणों से चित्रित करता है। इस अर्थ से हम इसे भविष्यवादी साहित्य भी कह सकते हैं। ऐसा साहित्य जीवन की कटु स्थिति में भी उसे अपनी साधना और विश्वास की शक्ति से परिवर्तित करने की चेतना को जगाता है। समाज तथा संसार की

पलकों में इच्छित सुख के सपनों का आरोप करता है। इसके विपरीत संघर्ष विमुख साहित्य के सम्बन्ध में भी अनेक धारणायें हैं। कुछ आलोचकों का कहना है कि यह साहित्य संसार की कठिन परिस्थितियों की ओर से आँख मूँद कर अपने अहम् भाव की पूर्ति का साधन मात्र है। कल्पना का कल्लोल है। साइमन ने लिखा है कि "इस साहित्य में हम वास्तविकता से हट कर किसी ऐसी भावुकता की शरण लेते हैं जिसमें हमारी अच्छी या बुरी नैतिक अवस्था में हमें आनन्द आता हो।" तो क्या ऐसे साहित्यकार समस्या को हल करने की अपेक्षा व्यर्थ की नगण्य वस्तुओं में मस्ती का मसाला और आनन्द खोजते फिरते हैं? क्या वे कल्पना से सुख तथा अदृष्ट से संवेदना प्राप्त करते हैं? कदाचित् ऐसी बात नहीं है, क्योंकि जीवन इतना व्यापक है कि उसकी यथातथ्य अभिव्यक्ति साहित्य में नहीं समा सकती, यदि ऐसा हो भी तो साहित्य का हित वाला अंश ही खतरे में पड़ जावेगा। जीवन की धारा में एक निर्जीव पदार्थ की भाँति साहित्यकार नहीं रहता, वह तो इस अनन्त प्रवाह में अपने हित के कुछ कण चुन लेता है इसी चुनाव में उसकी अपनी विशेषता है। कलाकार अनन्त जलराशि से, अपनी समवेदना से, अपनी अनुभूतिमय चेतना से संसार में कुछ ऐसी बूँदे बरसा जाता है जो संतप्त प्राणियों को तृप्त करके उनमें नवजीवन का संस्कार भर जाती हैं; तभी तो कहा जाता है कि साहित्य में जीवन की विकलता का नहीं वरन् सफलता का समाधान रहता है। इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका में एक विद्वान ने लिखा है—"आयर्लैन्ड के उन समस्त राजनीतिज्ञों की अपेक्षा जो अपने देश के लिये लड़े और मरे महान आयरिश कवि

यीटस और एबी थियेटर कहीं अधिक क्रान्ति के स्रोत थे। और सभी राष्ट्रों से बढ़कर आयर्लैंन्ड में कवि सदा अधिक, सारे संसार को हिला देने वाला समझा गया है।

समाज के नैतिक उत्थान और साहित्य में अविकल संबन्ध है किन्तु समाज की नग्न चित्रोपमता में ही साहित्य की सार्थकता नहीं हैं, क्योंकि कला का उद्गम स्थान कल्पना तथा अनुभूति की सम्मिलित साधना में है। उसे सीधे सामूहिक सम्पत्ति नहीं बनाया जा सकता है। जीवन के किसी भी क्षेत्र में ऐसा सम्भव नहीं है। सामूहिक सम्पत्ति पर भी उसकी सुचारुता के लिये एक व्यवस्था रखनी पड़ती है। कला की व्यावहारिकता तथा उसकी उपयोगिता पर बर्नर्डशा ने लिखा है :—

"हमारी दृष्टि में कला का आदर या अनादर उसकी व्यावहारिकता पर निर्भर है। सुन्दरता, संगीत तथा स्वच्छता की ओर कला हम में सुरुचि उत्पन्न करे, हमारे चरित्र और व्यवहार को समुन्नत करे, हमारे भीतर न्याय, सहानुभूति और आत्म दर्शन की भावना पैदा करे। हममें विवेक, आत्म निर्भरता और संयम के भाव भरे। क्रूरता, अन्याय, नीचता, बौद्धिक आत्मज्ञता और अश्लीलता की ओर से हमारे मन में घृणा पैदा करे। कलाकार वही है जो हमारे अन्दर मानसिक और नैतिक भावना जाग्रत करे।" कला की इस उद्देश्य पूर्ति के सभी सम्भवतः पक्ष में होगे। उन मानवीय गुणों तथा मान्यताओं का जो सर्वमान्य हैं कला में अवश्य ही प्रस्फुटन होना चाहिये। यहाँ पर सहसा टाल्सटाय की कला की परिभाषा भी सामने आ जाती है —"कला मानव समाज की एकता का साधन है। उसका उद्देश्य है जन सामान्य को एक भावना से उन्नति के पथ पर

अबाध्य रूप से एकत्र कर देना ताकि व्यक्ति तथा मानव समाज दोनों का कल्याण हो।"

साहित्य तथा कला के विषय में उक्त विवेचनों के बाद हम काव्य-कला पर विशेष रूप से विचार करेंगे क्योंकि हमारा आलोच्य विषय काव्य है। काव्य का कलाओं में विशेष स्थान भी है। जिस समय से मनुष्यों की चेतना पर वाह्य सृष्टि की अनेक वस्तुओं की छाया पड़ने लगी होगी उसी समय से वह उनके भिन्न भिन्न प्रभावों तथा प्रतिक्रियाओं की अभिव्यक्ति के लिये भी व्याकुल सा हो उठा होगा। मानव मात्र की मानसिक तथा शारीरिक संगठन के मूल में ही अभिव्यक्ति की आकुल आकांक्षा निहित है। आरम्भ में साधनों की कमी के कारण मनुष्य इंगितों तथा अन्य स्थूल उपायों से इन्हें स्पष्ट करने की चेष्टा करता रहा किन्तु इन साधनों से उसके मनोभावों का संतोषजनक व्यक्तीकरण सम्भव नहीं था अतएव आवश्यकता के अनुसार अभिव्यक्तियों की भी विधियाँ बनती गईं। काव्य भी अभिव्यक्ति की एक विधि है। काव्य-कला शाब्दिक संकेतों में अपनी अभिव्यक्ति पाती है। जीवन की दैनिक घटनाओं तथा प्राकृतिक दृश्यों के जो रूप इन्द्रियों द्वारा मस्तिष्क पर अंकित होते हैं वे केवल भावमय होते हैं। उन्हीं भावों का प्रकाशन शब्दों द्वारा किया जाता है। इस प्रकार अपने मानसिक चित्रों द्वारा ही कवि समाज तथा संसार से अपना सम्बन्ध स्थापित करता है। मानसिक क्रिया को तीन विभागों में विभाजित किया गया है—ज्ञान, भावना और इच्छा। मनोविज्ञान के अनुसार ये तीनों शक्तियाँ एक दूसरे से सदैव सम्बन्धित रहती हैं, तथापि काव्य-कला के मूल में भावना शक्ति का प्राधान्य रहता

है। यों तो भाव किसी भी कला का प्राण है किन्तु काव्य का तो बिना भाव के कोई स्वरूप ही नहीं खड़ा होता। भावों की कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती अस्तु काव्य में भावनाओं का निरूपण कवि की व्यक्ति प्रतिभा पर ही अवलम्बित है। मनुष्य की यही भावनायें आगे चलकर उसके क्रिया-कलाप में परिणत हो जाती हैं। यही कारण है कि किसी देश की कला उसके समाज के विकास का स्पष्ट स्वरूप मानी जाती है।

मनुष्य दिन रात स्वयं से, अपने अन्तर्जगत से तथा वाह्य प्रकृति से कुछ लेता देता रहता है और इस लेन देन की स्थिरता व्यक्ति की कल्पना तथा वस्तुस्थिति एवं उसकी भावना पर निर्भर है। यह कार्य-क्रम प्रत्येक चेतन प्राणी का है परन्तु सब लोग उसकी अभिव्यक्ति उस प्रकार नहीं कर पाते जिस प्रकार कवि कर सकता है। कवि की भावना इतनी प्रबल होती है कि वह वाह्य प्रभाव ग्रहण करने में एक साधारण प्राणी की अपेक्षा अधिक संमवेदनशील एवं उन्मुक्त रहता है। यही उसके हृदय की विशालता है। अपनी इस मुक्तावस्था के बिना व्यक्ति पार्थिव सुख-दुख, हानि लाभ के मायाजाल में फँसा रहता है और प्रकृति तथा जगत के नाना रूपों का निर्पेक्ष स्वरूप से ग्रहण नहीं कर सकता। जीवन में कुछ क्षण ऐसे अवश्य आते हैं जब व्यक्ति अपनी पार्थिव सत्ता को भूलकर अपने भावलोक में विचरण करने लगता है। उस समय वह केवल हृदय मात्र रह जाता है। अनुभूति ही उसके जीवन का उस समय आधार रह जाती है। यही दशा साहित्य में रस दशा कहलाती है। हृदय की इसी अवस्था की प्राप्ति की साधना का समाधान प्राणी जब अपने शब्दों द्वारा

संसार के सामने रखता है तब हम उसे कविता कहते हैं। यही कवि का भाव योग अथवा अनुभूति योग है। इस योग से हम सहज ही में शेष संसार के साथ एक रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। सारा संसार जिस प्रकार नाना रूपात्मक है उसी प्रकार व्यक्ति का हृदय भी नाना भावात्मक है। इस भिन्न रूपता का अपनी अनेक भाव रूपता से सामञ्जस्य कर लेना ही कवि का कौशल है। वाह्य जगत् के कुछ स्वरूपों तथा व्यवहारों से हम चिर परिचित हैं अतएव हमारे भावों का उनसे एक स्वाभाविक सम्बन्ध भी है किन्तु संसार की विस्तृत अवस्था तथा उसकी व्यापकता के साथ साथ उसके नित नव नवीन रूपों का भी हम अपने भावों से सम्बन्ध बनाते चलते हैं यही मानव की ग्रहणशीलता तथा उसके जीवित होने का प्रमाण है। कवि इन समस्त नये रूपों का अपनी भावना से एक सरूप निश्चित कर लेता है, जिसके फल स्वरूप उनकी अभिव्यक्ति में उसे किसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव नहीं होता। मूल प्रवृत्ति की यही मार्मिकता कवि की विषय निर्धारण प्रणाली होती है। इसीलिये यह प्रायः देखा जाता है कि विषयों की जटिलता का प्रभाव भावों की स्वतंत्र सत्ता पर नहीं पड़ता है क्योंकि भाव कभी भी अपना मूल रूप नहीं छोड़ते। भावों के अमूर्त विषयों की तह में भी मूर्त और प्रत्यक्ष रूप छिपे रहते हैं यथा काया के साथ छाया। उनकी अस्पष्टता तो बादल के दिनों में छाया की भाँति ही होती है जो प्रकाश का प्रादुर्भाव होने पर स्वतः स्पष्ट हो जाती है। यही कारण है कि काव्य में हमें अर्थ-ग्रहण तथा बिम्बग्रहण दोनों की अपेक्षा होती है।

हाँ तो कविता हमारी भावनाओं का मधुरतम स्वरूप है। जीवन संघर्ष

की पार्थिवता तथा विश्व के तुमुल कोलाहल कलह से दूर अपने हृदय में तल्लीन जब हम संसार को भूल कर अपने आपके अधिक समीप होते हैं तब हम स्वभावतः अधिक सरस तथा करुण बन जाते हैं। उस अवस्था के भाव-प्रवण हमारे सभी उद्‌गार कवित्वमय हो उठते हैं क्योंकि संसार विस्मृति तथा आत्म सजगता की इस दशा में हमें एक नया जीवन तथा एक नई स्फूर्ति प्राप्त होती है, हमारे लघु प्राण सहसा महाप्राण का सुखद एवं शान्त स्पर्श पा लेते हैं। प्रसाद जी की ये पंक्तियाँ उसी अवस्था की ओर सुन्दर संकेत करती हैं—"तुमुल कोलाहल कलह में मैं हृदय की बात रे मन"। कवि पन्त ने भी कुछ ऐसा ही लिखा है—"कविता हमारे परिपूर्ण क्षणों की वाणी है। हमारे जीवन का पूर्णरूप, हमारे अन्तर्तम प्रदेश का सूक्ष्माकाश ही संगीतमय है, अपने उत्कृष्ट क्षणों में हमारा जीवन छन्द ही में बहने लगता है, उसमें एक प्रकार की सम्पूर्णता, स्वरैक्य, तथा संयम आ जाता है। प्रकृति के प्रत्येक कार्य, रात्रि दिवस की आँखमिचौनी, षड्‌ऋतु परिवर्तन, सूर्य शशि का जागरण शयन, ग्रह उपग्रहों का अश्रान्तनर्त्तन, सृजन, स्थिति, संहार-सब एक अनन्त छन्द, एक अखण्ड संगीत ही में होता है"। ऐसे क्षणों की सार्थकता सूखे तार्किक विधानों से सम्भव नहीं है। हृदय की इस मुक्तावस्था में निकले हुये गान कभी भी किसी उद्देश्य विशेष की सीमा में नहीं समा सकते। जिस प्रकार पानी के भीतर डूबे हुये व्यक्ति की आकाँक्षा बाहर आने की होती है उसी प्रकार हृदय की दबी भावनायें अपने आवेग के साथ शब्दों के माध्यम से बाहर आने को आकुल हो उठती है क्योंकि बाहर ही तो जीवन की साँस का समाहार सम्भव है, जिससे जीवन स्वस्थ और सुन्दर बनता है।

कविता हमारे अन्तर्जीवन की साँस है हमारा हृदय उसी से तो स्वास्थ्य लाभ करता है। वर्तमान हिन्दी कविता में हम इसी आन्तरिक साँस का स्पन्दन पाते हैं। इस सरस साँस का अनुभव करने के लिये साधना की अपेक्षा है।

साहित्य के सभी अंगों को, विशेष कर काव्य को लेकर आज साहित्य संसार में एक विवाद चल रहा है। नये नये वादों की सृष्टि की जा रही है। अपनी पार्थिव तथा दैनिक समस्याओं के समाधान का निदान काव्य में खोजा जा रहा है। कुछ लोगों की वर्वरता तो इतनी बढ़ गई है कि वे काव्य के कोमल अंगों की निन्दा भी कर बैठते हैं। विचार स्वातंत्र्य की ओट में जो चाहे बकते रहते हैं। ऐसा होना अनुचित है। पुराने रूढिवादियों की दलीलों से, उनकी नवीन काव्य की अबोधता से उतना क्षोभ नहीं होता जितना नवयुवकों की ओछी उत्तेजना पूर्ण बहक से। यों तो अनेकवादों का प्रचार तथा प्रसार आज अनधिकारी लोग अपनी पशु प्रवृत्ति की कलित क्रीड़ा के प्रदर्शन के लिये कर रहे किन्तु हमें यहाँ पर नये मन गढ़े वाद प्रगतिवाद पर विचार करना है। मेरा तो विचार है कि काव्य किसी वाद के कठघरे में बन्द नहीं किया जा सकता, वह तो एक व्यापक सत्ता है उसकी स्थिति सभी वादों में भी हो सकती है और किसी में नहीं हो सकती। इस नवीन वाद के प्रचारक वर्तमान काव्य में कतिपय दोषों का आरोप करते हैं। उनका कहना है कि यह कविता केवल शब्द-जाल है, अस्पष्ट है, कोरी कल्पनात्मक है, जीवन से दूर है और एकदम व्यक्तिगत है। एक तो ऐसा है नहीं, यदि ऐसा हो भी तो किसी काव्य-गत विशेषता का महत्व इससे कुछ घटता नहीं। ये सब

न्यूनताएँ तो व्यक्ति की है न कि किसी काव्य धारा की। यथा कुरूप व्यक्ति की आकृति शीशे की सुन्दरता से सुन्दर नहीं हो सकती उसी प्रकार अनधिकारी व्यक्ति कभी साहित्य में भी किसी प्रकार की सुचारुता नहीं ला सकता है। यह काम तो कुछ सधे हुये साधकों का ही है।

एक आलोचक का कहना है कि "हम में जो सद्भाव सोये हुये हैं उन्हें जागृत करने की शक्ति जिसमें है, वही कवि है। सब कविताओं का असर सबों पर एक सा नहीं होता, क्योंकि सब में सब सद्भावनायें समान परिमाण में नहीं होती।" मानव-जीवन की एकान्त चेतना की समवेदना से जो गान शब्दों के रूप में बाहर आते हैं वे गूढ़ और अस्पष्ट होंगे ही क्योंकि वे जीवन की मार्मिकता तथा साधना की सात्विकता से ओत-प्रोत होते हैं। उनके ग्रहण करने की शक्ति न होने पर उनका उपहास करना उसी तरह हास्यास्पद है जिस तरह एक तैरना न जानने वाले व्यक्ति के लिये सागर की अतल गहराई की व्यर्थता। हृदय की जिन भव्य भावनाओं को जन सामान्य समझने में असमर्थ हैं उनको व्यर्थ का शब्द जाल कहने लगते हैं, यह उनके लिये उतना ही स्वाभाविक है जितना अंगूरों के प्राप्त न होने पर उनके विषय में लोमड़ी का अंगूरों को खट्टा बताना। छायावाद तथा रहस्यवाद के विषय में भी कुछ लोगों की यही भ्रमात्मक धारणा है। साधारण जीवन में भी हम एक दूसरे को कहाँ समझ पाते हैं, यदि ऐसा होता तो आपस के इस रक्तपात का कभी अन्त हो गया होता किन्तु ऐसा होता नहीं। सभ्यता और बुद्धि के विकास के साथ हमारी पशुता भी उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। आज का नर संहारकारी युद्ध इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है। जब प्रत्यक्ष तथा

स्थूल जीवन की बोधगम्यता का यह हाल है तब हृदय की भावनाओं की सहज बोधता की तो कल्पना भी करना व्यर्थ है। जब तक जनसाधारण कवि की भाँति अपने आन्तरिक जगत में सचेत तथा अपनी साधना से समवेदनशील नहीं बनता तब तक वह कविता का स्वरूप समझ भी कैसे सकता है। स्वार्थमयी सांसारिकता से मुक्त हुये बिना हम कभी भी किसी दूसरे के प्रति उदार नहीं बन सकते, दूसरे के भावों को नहीं समझ सकते, दूसरे के हृदय से अपना सम्बन्ध नहीं स्थापित कर सकते, शायद इसी से कवि को कहना पड़ा है—

समझ कौन सका किसी हृदय को !
सच नहीं होता सदा अनुमान है।
कौन भेद सका अगम आकाश को ?
कौन समझ सका उदधि का गान है ?

मनुष्य युग भावना के अनुसार अपने को बदलते रहने का आदी है। समय के अनुसार उसका वाह्य स्वरूप, उसकी रहन सहन, उसका भोजन-पान, उसके आचार-विचार सभी बदलते रहते हैं किन्तु उसकी आत्मा तो शाश्वत है। जाड़े के दिनों में चाहें व्यक्ति गर्म ओवर कोट पहिने अथवा गर्मी के दिनों में पतला मलमल का महीन कुर्ता किन्तु इस परिवर्तन का प्रभाव उसकी आत्मा की सनातनता में कोई भी परिवर्तन नहीं ला सकता। कविता भी आत्मा की भाँति इन वाह्य परिवर्तनों के बीच में सुरक्षित रहती है। देशकाल की नश्वर तथा संकुचित सीमा उसे नहीं बाँध सकती क्योंकि वह किसी एक युग तथा एक परिस्थिति की उपज नहीं है, वह तो एक विशेष युग में रहते हुये भी सभी युगों की स्थायी

सम्पत्ति है। पृथ्वी और आकाश की तरह आत्मा का अस्तित्व तथा उसकी अनुभूति के गान सदैव ही अजर अमर रहते हैं। "यह सत्य है कि सब मनुष्य की अभिव्यञ्जना की शक्ति एक सी नहीं होती और न सब मनुष्यों के अनुभवों की मात्रा तथा विचारों की गम्भीरता भी एक सी होती है, परन्तु साधारणतया यह प्रवृत्ति मनुष्यों में पायी जाती है। मनुष्य की इसी प्रवृति की प्रेरणा से ज्ञान और शक्ति के उस भण्डार का सृजन, संचय और संवर्द्धन होता है जिसे हम साहित्य कहते हैं।" मनुष्य के हृदय में मुख्यतः दो प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं। प्रथम रागात्मक और द्वितीय इतिवृत्तात्मक। पहिली उसे संसार की व्यावहारिकता के परे एक अलौकिक सृष्टि का साक्षात्कार कराती है तथा दूसरी उसे संसार की व्यवहार कुशलता देती है। मनुष्य की यही अलौकिता उसके कला की अधार भूमि है। जीवन का यही कलात्मक स्वरूप सत्य और साध्य है। हमारा व्यावहारिक जगत् तो ऋतु परिवर्तन की भाँति ही परिवर्तनशील है उसमें समय की सनातनता नहीं है। कविता की उपज में कई बातों का आधार अपेक्षित रहता है परन्तु कवि का व्यक्तित्व ही इसका मूल आधार है, दूसरे शब्दों में हम इसे मौलिकता भी कह सकते हैं। काव्य में साधारणतया किसी वस्तु आधार की आवश्यकता नहीं पड़ती, इसमें कल्पना की कमनीयता रहती है जो स्वतंत्र मानी गई है। कल्पना प्रसूत कला को भी दो भागों में विभाजित किया जा सकता है, काव्य और विज्ञान। प्रथम केवल अनुभूति प्रधान कल्पना से अनुप्राणित रहता है तथा द्वितीय तर्क की बौद्धिकता से बोझिल। काव्य का क्षेत्र अन्तर्जगत् तथा विज्ञान का वहिंजगत् है। काव्य का उद्देश्य जीवन के मामिक पक्षों

की अभिव्यञ्जना करना है और विज्ञान का स्थूल पक्षों की। कुछ लोगों का कथन है कि काव्य की कल्पना का कुछ आधार नहीं होता वह एक प्रकार की दिमागी क्रीड़ा है किन्तु यह बात सिद्ध नहीं होती क्योंकि जिस वस्तु का अस्तित्व होता है उसी की कल्पना भी हो सकती है अन्यथा नहीं। कल्पना में केवल सत्य ही नहीं वरन् वह भी आ जाता है जो सत्य हो सकता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि आखिर इस कलित काव्य-कला की कुछ कसौटी भी है या नहीं ? इसका उत्तर अनेक आचार्यों ने अनेक प्रकार से दिया है पर सभी में एक समानता है। कला स्वयं अपनी कसौटी है। उपवन की कोमल कलिका अपनी स्वयं की कसौटी से अपनी पूर्णता की जाँच करके एक सुमन के रूप में हँस पड़ती है। निर्झर को फूट निकलने के लिये कभी भी किसी वाह्य सन्देश की आवश्यकता नहीं पड़ी। इसी प्रकार कला स्वयं अपनी मीमांसा करती है। हमारा हृदय आनन्द विभोर होने की अवस्था का स्वयं स्वागत कर लेता है। फिर भी आचार्यों द्वारा एक कसौटी 'सत्यं शिंव सुन्दरम्' की सर्व मान्य है यही भारतीय आदर्श रहा है। आज की कथित प्रगतिशीलता सम्भवतः हमारी अपनी अनैतिकता का ही फल है। विदेशी अनुकरण मात्र है। एक झूठा भुलावा है। भारत तथा योरूप के सभी क्षेत्रों में एक देशगत वैषम्य है तभी न योरूप के रणोन्माद विह्वल प्राणियों को भी भारत का फकीर गाँधी अहिंसा की शिक्षा तथा साधना का सन्देश देता है। अंग्रेजी साहित्य और काव्य-कला का उद्देश्य इहलौकिक जीवन की समस्याओं का सुलझाना ही रहा है, प्रायः सभी पाश्चात्य देशों की यही प्रतिभा है। परन्तु भारत का

सिद्धान्त इससे भिन्न है। हमारा उद्देश्य इहलौकिक उन्नति के साथ-साथ पारलौकिक उन्नति करना रहा है। हमारे यहाँ सदैव जीवन का आदर्श स्वरूप ही उपस्थित किया गया है। यही कारण है कि हमारे प्राचीन नाटकों में सुख-दुख के भीषण प्रति घात दिखाये गये हैं पर अन्त सदैव सुख ही में किया गया है। भारतीय जीवन, साहित्य तथा आदर्शों का यही स्वरूप रहा है। आदर्शात्मक साम्य भारत की साधना की परम्परा है। यहाँ पर परम्परा शब्द मेरी रूढ़िप्रियता का पोषक न होकर इतिहास का समकक्ष है? यद्यपि मुझे मालुम है कि कितने ही नये विचारों का व्यक्ति पैर से चलने की रूढ़ि को तोड़कर सिर से नहीं चलेगा। जो भी हो, हमारे यहाँ काव्य को लोकोत्तर आनन्द देने वाली शक्ति के ही रूप में ग्रहण किया गया है। कविता का आदर्श वस्तुतः ऐसा ही होना चाहिये।

हम यह पहिले कह चुके हैं कि कला के विषय का यह आधुनिक आँदोलन योरुपियन कला की प्रवृतियों का परिणाम है। जिसके फलस्वरूप कला को भी स्थूलता तथा अश्लीलता की ओर घसीटा जा रहा है। लोकप्रियता की झख में काव्य के उपादान भी स्थूल माने जाने लगे हैं किन्तु मेरा विचार है कि इस विषय में जन साधारण में व्यर्थ की गलत फहमियाँ फैलायी जाती हैं और कुछ नये व्यक्ति अपने को प्रगतिशील साहित्यिकों की श्रेणी में रखकर सस्ती ख्याति भी कमा रहे हैं। साथ ही कुछ पुराने साहित्यिकों ने अपनी डगमगाती हुई ख्याति को भी इसी के सहारे सँभालना चाहा हैं। मुझे स्वयं सत् प्रगतिशीलता से घृणा नहीं किन्तु मेरा विचार है कि प्रगति किसी श्रमिक, अथवा कृषक या वेश्या तथा किसी

अन्य दलित व्यक्ति का नग्न चित्र उपस्थित कर देने ही में समाप्त नहीं हो जाती न कहीं काव्य में दो चार जान बूझ कर लिखी गई किसी वर्ग विशेष को गालियाँ ही उसे स्वरूप देतीं। लोगों को आश्चर्य में डालने वाले नवीन नग्न अनैतिक आदर्शों की घोषणा भी प्रगति का पथ नहीं है। अपनी व्यक्तिगत अकाँक्षाओं की अतृप्ति को लेकर जब कभी भी साहित्य का निर्माण होगा तब उसमें विद्रोह तथा विद्वेष की भावना का प्राधान्य रहेगा जो स्वयं अपने आप की हत्या का हथियार है। मैं तो देखता हूँ कि यदि इस नये (प्रगतिशील) साहित्य से साहित्यकार की पार्थिव भूख तथा वासना को निकाल दिया जाय तो बहुत कम शेष रह जावेगा। तब तो इसे उद्दाम वासनाओं के नग्न नृत्य का उपादान ही कहना पड़ेगा। नकल में भी तो अकल की आवश्यकता होती है। हमारा आज का प्रगतिशील साहित्य स्थूलता (पृथ्वी को) छूते-छूते स्वयं भी उसी में समा सा रहा है। वह उस सूक्ष्म (आकाश को) सर्वथा भूला देना चाहता है, जिसकी ओर झाँकना कवि का काम है। पृथ्वी पर तो चींटी, मटा, पशु सभी रहते तथा चलते हैं किन्तु अनन्त आकाश की ओर दृष्टिपात करना ही मानव की महानता है।

कवि जो कुछ देखता सुनता या जानता है अथवा अनुभव करता है वही अपनी कविता में व्यक्त करता है। इस व्यक्तीकरण में विभेद भी बहुत सम्भव हैं पर साहित्य तो मूलधारा में प्रकट होता है न कि अभि-व्यक्ति के ढंग विशेष में। चाहे जो हो पर व्यक्त तो केवल वही बात की जा सकती है, जो ज्ञेय, प्रेय तथा अनुभव गम्य हो। ज्ञान तथा अनुभव हमारे जीवन को ही लेकर सम्भव हैं तब हमारे कार्य उसके बाहर

कहाँ और कैसे जा सकते हैं। यही कारण है कि जिन शक्तियों तथा परिस्थितियों का प्रभाव हमारे जीवन में पड़ता है उनकी झाँकी हमें साहित्य में भी मिलती है। हमारा जीवन सदैव से गतिशील है। गति के बिना तो जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती। निरन्तर गतिशीलता सृष्टि के जीवन तथा उसके रहस्यों का आधार है। किसी भी गति के दो रूप होते हैं, इन दोनों का समीकरण ही जीवन को सफल बनाने में समर्थ होता है। जीवन की विकासशील तथा विनाशशील गतियों के संघर्ष के बिना जीवन, जीवन न रह सकेगा क्योंकि एक शक्ति की पराजय का प्रयत्न तथा दूसरी शक्ति की स्थापना का प्रयास ही तो जीवन को गति तथा स्थायित्व देता है। जीवन की इन दो विरोधी गतियों के संघर्ष का चित्रण करते हुये विकासशील गति की सहायता एवं समाज में, संसार में, उसकी स्थापना करना ही तो कला का काम है। विकास की प्रेरणा प्रदान न करने वाला साहित्य कभी प्रगतिशील नहीं माना जा सकता। जो साहित्य हमें सत्यासत्य, उचित-अनुचित का बोध कराके सत्य पथ पर आरूढ़ करे वही साहित्य वास्तव में प्रगतिशील है। प्रगति की इस परिभाषा से किसी का भी विरोध नहीं हो सकता। इसके विरुद्ध जो साहित्य किसी वर्ग विशेष का विद्रोह अपने व्यक्तिगत कारणों से करे अथवा किसी दल का पक्षपाती हो, उसे मैं प्रगतिशील नहीं कह सकता क्योंकि हमारा उद्देश्य तो सम्पूर्ण मानवता के जीवन को प्रेम और समता की भावना में गूँथना है।

योरूप के लिये यह प्रगति चाहे नयी वस्तु तथा दिमाग़ की नयी उपज हो किन्तु हमारे यहाँ का तो प्राचीनतम साहित्य भी अपने सच्चे

अर्थों में गतिशील रहा है। आवश्यकता है आँख खोलकर उसे पढ़ने तथा मनन करने की। वेदों की देव भावना के प्रति आस्था एवं आसुरी भावना के प्रति विद्रोह का केवल यही आशय है। कौरव-पाण्डव तथा राम-रावण युद्ध भी इसी बात के रूपक मात्र हैं। शायद यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि इन दोनों ग्रंन्थों की मान्यता विश्व-साहित्य में पूर्ण रूप से है। आज भी छायावादी तथा रहस्यवादी कवियों की रचनाओं में जीवन के इस संघर्ष का चित्रण पाया जाता है। प्रसाद जी की कामयनी द्वारा भी हम यही पाठ सीखते हैं—

अपने सुख-दुख से पुलकित यह मूर्त विश्व सचराचर
चिति का विराट वपु मंगल यह सत्य सतत चिर सुन्दर
सब भेद-भाव भुलवा कर दुख-सुख को दृश्य बनाता
मानव कह रे "यह मैं हूँ" यह विश्व नीड़ बन जाता

महादेवी जी की ये पंक्तियाँ जीवन की ममता तथा करुणा में क्या गतिशील नहीं हैं? उनके मन का यह सघर्ष क्या जीवन-व्यापी संघर्ष का द्योतक नहीं है? किन्तु प्रकाश न देखने की उलूक-प्रथा का प्रतिपादन करने वालों के लिये हमारे पास कोई उपाय नहीं है अन्यथा ये पंक्तियाँ उन्हें भी अपने शुद्ध स्वरूप में गतिशील लगतीं यथा—

कह दे माँ क्या देखूँ!
देखूँ खिलती कलियाँ या
प्यासे सूखे अधरों को,
तेरी चिर यौवन-सुषमा

या जर्जर जीवन देखूँ !
देखूँ हिम हीरक हँसते
हिलते नीले कमलों पर,
या मुरझाई पलकों से
झरते आँसू कण देखूँ !
तुझमें अम्लान हँसी है
इसमें अजस्र आँसू-जल,
तेरा वैभव देखूँ या
जीवन का क्रन्दन देखूँ !

क्या इन पंक्तियों में पीड़ित मानवता के प्रति एक संमवेदन नहीं है ! प्रकृति की चिर संपन्नता तथा मानव-जीवन की विपन्नता के वैषम्य पर इससे भी अधिक क्षोभ होना सम्भव है ! उनकी इस प्रकार की भावनाओं की परिणति इन पंक्तियों में होती है—

मैं नीर भरी दुख की बदली !
विस्तृत नभ का कोई कोना,
मेरा न कभी अपना होना,
परिचय इतना इतिहास यही,
उमड़ी कल थी मिट आज चली !

देवी जी को जीवन की इस करुणावस्था से ही संतोष नहीं है। वे आगे अपनी साधना से अपने त्याग को एक सुन्दर स्वरूप भी दे जाती है। यही तो कला की कमनीयता तथा कलाकार की विशेषता है। देखिये न—

रजकण पर जलकण हो बरसी
नवजीवन अंकुर बन निकली !
मैं नीर भरी दुख की बदली !

आज हमारे जीवन में एक नवीनता है, उत्साह है। हमें वायुमंडल से नवजीवन के सन्देश मिल रहे हैं। आज उच्च वर्ग की विलास सामग्री का विनाश होगा आदि-आदि नारे लगाने वालों से कहीं अधिक श्रेयस्कर नवजीवन का सन्देश हमें ऊपर की कविता में मिलता है। सड़कों पर चिल्लाने से नवजीवन नहीं प्राप्त होता उसके लिये पतझार की आत्म-त्यागमयी साधना की अतीव आवश्यकता होती है। तभी वसंत का विहार सुलभ होता है।

इस प्रकार हमारे यहाँ के कवि जो वास्तव में कवि हैं तुक्कड़ों की बात मैं नहीं कहता सभी सच्चे अर्थों में जीवन के साथ तथा प्रगतिशील है। निराला जी की ये पंक्तियाँ मेरे विचार से इस युग की प्रगतिशीलता की अग्रदूतियाँ है। विधवा की करुणा के प्रति कवि की स्वाभाविक सहानुभूति उमड़ पड़ी है। इसी से उनके शब्द-शब्द में ममता का मान है—

वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा सी,
वह दीपशिखा सी शान्त, भाव में लीन,
वह क्रूर काल-ताण्डव की स्मृति रेखा-सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता सी दीन—
दलित भारत की ही विधवा है।

यह दुःख वह जिसका नहीं कुछ छोर है,
दैव अत्याचार कैसा घोर और कठोर है !

इन पंक्तियों में विधवा के प्रति केवल समवेदना मात्र नहीं है। कवि अपनी ध्वन्यात्मक व्यञ्जना से देश की सामाजिक कुप्रथा पर भी आघात करता है। " दलित भारत की ही विधवा है "। आगे अत्याचार पूर्ण इस दुख की स्पष्टता भी है। कवि इसे दैवी या न्यायोचित दुःख नहीं मानता यह तो समाज का दंड है । इस कवित्वमय ढंग से सामाजिक विद्रोह सम्भवतः अधिक प्रभाव पूर्ण होता है !

आज की नवीन जागृति का घोष भी निराला का कवि पहिले इन शब्दों में कर चुका है।

जागो फिर एक बार !
उगे अरुणाचल में रवि ,
आई भारती रति कवि कंठ में,
पल-पल में परिवर्तित होते रहते प्रकृति-पट,
गया दिन, आई रात,
मुँदी रात, खुला दिन,
ऐसे ही संसार के
बीते दिन पक्ष-मास,
वर्ष कितने ही हज़ार !
जागो फिर एक बार
प्यारे जगाते हुये हारे सब तारे तुम्हें
अरुण पंख तरुण किरण

खड़ी खोल रही द्वार !

जागो फिर एक बार !

आ ज के कुछ नवीन प्रगतिवादी युवकों को यह कवि प्रतिक्रियावादी से जान पड़ते हैं किन्तु पन्त जी की काव्य प्रतिभा को इस प्रगति-सम्प्रदाय में भी मान्य समझा जाता है, अस्तु उनकी कविता का यहाँ हम कुछ विस्तृत विवेचन करेगे। मेरा अपना मत है कि पन्त जी की पहिली कविताएँ अधिक प्रगतिमय है। तभी तो उन्होंने स्वयं ग्राम्या की भूमिका में लिखा है कि—"इनमें पाठकों को ग्रामीणों के प्रति केवल बौद्धिक सहानुभूति ही मिल सकती है।" क्या कविता बुद्धि की उपज है ? कदापि नहीं, काव्य में तो बुद्धि की अपेक्षा हृदय की विदग्धता अपेक्षित है, जो पन्त जी की पहिली कविताओं में अधिक मात्रा में पायी जाती है। यथा—

तप रे मधुर मधुर मन !
विश्व-वेदना में तप प्रतिपल,
जग-जीवन की ज्वाला में गल,
बन अकलुष, उज्ज्वल औ कोमल
तप रे विधुर विधुर मन !
अपने सजल स्वप्न से पावन,
रच जीवन की मूर्ति पूर्णतम,
स्थापित कर जग में अपनापन,
ढल रे ढल आतुर मन !

इसके आगे वे कहते हैं—

जग पीड़ित है अति दुख से,
जग पीड़ित रे अति सुख से,
मानव जग में बँट जावे
दुःख सुख से औ सुख दुख से !

इन पंक्तियों में मानव के प्रति उनकी हार्दिक सहानुभूति है। वे जीवन के स्थायित्व का निरूपण भी बड़े सुन्दर रूप में करते हैं—

आसूँ की आँखों से मिल
भर ही आते हैं लोचन,
हँस मुख ही से जीवन का
पर हो सकता अभिवादन !

छायावादी कवियों पर यह भी आक्षेप किया जाता है कि वे जीवन से दूर भागते हैं और अपना एक काल्पनिक जगत बनाकर उसी में विचरण करते हैं पर वास्तव में ऐसा नहीं है। पन्त जी ने स्वयं लिखा है—

जग-जीवन में उल्लास मुझे,
नव-आशा, नव-अभिलाष मुझे,
ईश्वर पर चिर विश्वास मुझे,
चाहिये विश्व को नव-जीवन,
मैं आकुल रे उन्मन उन्मन !

इतना ही नहीं बल्कि उनका तो मत है कि—

सुन्दर विश्वासों से ही
बनता रे सुखमय जीवन,

ज्यों सहज-सहज साँसों से
चलता उर का स्पन्दन !

जीवन के उपर्युक्त सभी स्वरूप सुन्दर तथा शाश्वत हैं। अब मानव का भी एक चित्र देखिये—

तुम मेरे मन के मानव,
मेरे गानों के गाने;
मेरे मानस के स्पन्दन,
प्राणों के चिर पहिचाने !
मैं नव नव उर का मधु पी,
नित नव ध्वनियों में गाऊँ,
प्राणों के पंख डुबा कर,
जीवन मधु में घुल जाऊँ।

यह मानव का आन्तरिक चित्र है और यही उसकी जीवन के प्रति ममता है। क्या पन्त जी की कोई भी नवीन कविता जीवन तथा मानवता के ममत्व में इन कविताओं के समक्ष रखी जा सकती है ? हाँ यह बात दूसरी है कि आज हमने जीवन के व्यापक संघर्ष का संकुचित रूप मीर्क्सबाद के रूप में ग्रहण कर लिया है किन्तु संघर्षों की व्यापकता स्वयं कविता की भाँति बाहों में नहीं समा सकती ! इस बात को मैं मानता हूँ कि मानव से मानव की वैषम्य रेखा को व्यक्त करने का, मार्क्सवाद एक वैज्ञानिक साधन है किन्तु वह भी केवल मानव-सृष्टि को ग्रहण करने के कारण एकाँगी ही रह जाता है, उसमें सृष्टि के सामूहिक जीवन की पूर्णता नहीं है। हमारा क्षेत्र तब और भी संकुचित पड़ जाता है जब हम

उसे केवल शासक तथा शासित वर्ग के संघर्षण में ही समाहित कर देते है। जर्मन तथा इंगलैन्ड तो दो स्वतंत्र राष्ट्र थे पर उनका आपस का संघर्ष कितना विश्व व्यापी है, इसका हम सब को पता है। क्या स्वयं मार्क्सवादी शासन सत्ता के अन्तर्गत कवि को वह स्वतंत्रता प्राप्त है जो उसकी कला के विकास के लिये आवश्यक नहीं वरन् अनिवार्य है ? क्या श्रमजीवी वर्ग की सरकार लेखनी के मज़दूरों को किसी फैसिस्ट सरकार की ही भाँति तंग नहीं करती ? आज तक रूस के प्रसिद्ध क्रान्तकारी कवि मायाकाव्स की आत्म-हत्या का रहस्य संसार को नहीं मालुम हुआ। मेरा विचार है कि सरकारी नियंत्रण ने उसे उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति के विरुद्ध अवश्य ही छेड़ा होगा और ऐसे बँधे जीवन की मुक्ति के लिये ही उसने आत्म-हत्या की होगी। अस्तु हम कह सकते हैं कि कलाकार की स्वतंत्र प्रवृति को कुचल कर उसके द्वारा अपना हित साधन कराने के नाते, फैसिस्ट, साम्राज्यवादी तथा साम्यवादी तीनों एक हैं। इसका फल होता है जीवन तथा प्रगति का दुखान्त। जब निर्बाध गति ही न रही तो प्रगतिशीलता कैसी ? स्थूल जीवन के अभाव तथा प्रभाव से मुक्त कवि ही सच्चा प्रगतिशील कवि हो सकता है। इसमें दो मत नहीं है। हाँ तो पन्त जी की नवीन कविताएँ एक वर्ग विशेष को सहानुभूति देती हैं तथा उनमें एक वाद विशेष का प्रतिपादन रहता है, इसीलिये शायद वह प्रगति शील मानी जाती हैं। पन्त जी स्वयं उनको प्रयोगात्मक काव्य रचनायें मानते हैं। यद्यपि प्रयोग किसी विषय के सिद्धि का स्वरूप नहीं होते परन्तु फिर भी उनमें विषय की झलक तो मिलती ही है। समाजवाद के प्रभाव से सम्भवतः उन्होंने मार्क्स के प्रति यह कविता लिखा है—

दन्त कथा, वीरों की गाथा, सत्य, नहीं इतिहास,
सम्राटों की विजय लालसा, ललना भ्रकुटि विलास।
दैव नियति का निर्भय क्रीड़ा-चक्र न वह उच्छृंखल,
धर्मान्धता, नीति, संस्कृति का ही केवल समरस्थल।
साथी है, इतिहास—किया तुमने निर्भय उद्घोषित,
प्रकृति विजित कर मानव ने की विश्व सभ्यता स्थापित।

इस कविता में हमें मार्क्स की अपनी सिद्धान्त प्रतिपादन की घोषणा का निर्भय रूप मिलता है। एक व्यक्ति के विषय में हम जानकारी प्राप्त करते हैं। इसे हम पद्यात्मक परिचय मात्र कहेंगे। इसी प्रकार हाल की उनकी अधिकतर कविताएँ बाद विशेष और व्यक्ति विशेष के प्रति अभिवन्दना मात्र सी लगती हैं। आश्चर्य केवल एक बात का है कि वे गाँधी तथा मार्क्स दोनों का समान रूप से सम्मान करते हैं। इसे हम उनके हृदय की विशालता तथा उदारता के सिवा और क्या कहें।

काव्य तो सदैव भावात्मक होता है। काव्य के लिये सम्भवतः सिद्धान्तों तथा विद्वता की अपेक्षा कल्पना एवं अनुभूति की अधिक आवश्यकता होती है, क्योंकि काव्य, कलाकार की अपनी सृष्टि है वह मानो उसकी अन्तरात्मा का समुचित विकास है। काव्य में यदि कहीं अनुकरण अथवा सिद्धान्तों का प्रतिपादन है तो उसका कारण देश, संसार तथा समय के वे प्रभाव हैं, जो उसकी अन्तरात्मा में उसकी पार्थिव विवशता के कारण प्रवेश कर गये हैं। यदि उनमें कलाकार की अपनी कुछ अनुभूति नहीं है तो वह एक क्षणिक उत्तेजना मात्र से रह जावेंगे। किसी भी कला-कृति में अनुभूति ही सप्राणता का संचार करती है, फिर

काव्य का तो वह आवश्यक उपादान है। कवि ने जीवन का जो रस प्राप्त किया है, विश्व की सौन्दर्यशाला से जो सौन्दर्य उपलब्ध किया है, संसार की गति में, मनुष्य के चिरन्तन जीवन प्रवाह में, अपनी साधना के साधन में, जिस सत्य को प्राप्त किया है वही उसकी अपनी अनुभूति है। उसकी अनुभूति की अनुकूलता उसकी कला में अवश्य ही प्रदर्शित होगी, इसी कारण कला, कलाकार के जीवन की सभी साधनाओं का सुफल मानी जाती है। सम्भवतः इसी लिये पन्त जी अपनी नवीन रचनाओं के साथ-साथ कभी कभी अपने अतीत का भी स्पर्श कर लेते हैं यथा—

अब रजत स्वर्ण मंजरियों से,
लद गई आम्र तरु की डाली!
झर रहे ढाँक, पीपल के दल,
हो उठी कोकिला मतवाली।

× × ×

फिरती हैं रँग-रँग की तितली
रँग-रँग के फूलों पर सुन्दर,
फूले फिरते हो फूल स्वयं
उड़ उड़ वृन्तों से वृन्तों पर!

ये पंक्तिया हमें प्रकृति प्रिय कवि पन्त का ही स्मरण दिलाती हैं प्रगतिशील कवि पन्त का नहीं। वास्तव में पन्त जी प्रकृति तथा सौन्दर्य के ही सुन्दर कवि हैं। एक और भी सुन्दर चित्र लीजिये—

अब आधा जल निश्चल पीला—
आधा जल चंचल औ नीला—

गीले तन पर मृदु संध्यातप
सिमटा रेशम पट सा ढीला।

क्या भाषा क्या भाव क्या शैली, सभी दृष्टि से ये कविताएँ उनकी प्रथम कविताओं के ही अनुरूप हैं। साहित्य में पन्त जी अपनी इसी प्रतिभा से स्थापित हैं। इन प्राकृतिक चित्रों के साथ उनके कुछ सौन्दर्य चित्र भी दर्शनीय हैं, जो उनकी काव्यानुभूति से अनुप्राणित हैं—

यदि स्वर्ग कहीं है पृथ्वी पर तो वह नारी उर के भीतर,
दल पर दल खोल हृदय के स्तर
जब बिठलाती प्रसन्न होकर
वह अमर प्रणय के शत दल पर
मादकता जग में कहीं अगर, वह नारी अधरो में सुखकर
क्षण में प्राणो की पीड़ा हर
नव जीवन का दे सकती वर
वह अधरो पर धर मदिराधर !

प्रवासी पन्त के कवि के लिये अब ऐसी कविताएँ केवल सामयिक विश्राम-स्थल की भाँति हैं। पन्त जी का कोमल-हृदय, उनकी सुकुमार मनोवृत्ति जब प्रगति के पथ में चलते-चलते थकान का अनुभव करती हैं तब वे अपने स्वाभाविकता में ही विश्राम पाते हैं। उनकी नवीन प्रगति की सूखी बौद्धिकता का भी उदाहरण देखिये—

जोतो हे कवि, निज प्रतिभा के
फल से निष्ठुर मानव अंतर,

चिर जीर्ण विगत की खाद डाल
जन-भूमि बनाओ सम सुंदर !

× × ×

विज्ञान ज्ञान बहु सुलभ, सुलभ बहु नीति धर्म,
संकल्प कर सके जन, इच्छा अनुरूप कर्म।
उपचेतन मन पर विजय पा सके चेतन मन,
मानव को दो यह शक्ति, पूर्ण जग के कारण।

ऊपर की दोनों कविताओं में बड़े ही सुन्दर तथा श्रेष्ठ विचारों का प्रतिपादन है, पर उनमें कवित्व कितना है, भाव प्रवाह तथा रस परिपाक कितना है, इसका पाठक स्वयं अनुमान लगायें। कलाकार का ध्येय अपने असाधारण भवावेश को व्यक्त करना है। आत्मिक आनन्द के अतिरेक में कलाकार ने जो कुछ अनुभव किया हो, उसे शब्दों के साधन में, भौतिक रूप में चित्रित करना ही उसका कार्य है। इसके विपरीत पठित सिद्धान्तों तथा मतों के प्रतिपादन में पड़ने पर कवि निश्चय ही नीरस एवं तार्किक हो जावेगा। रूप तथा भाव, वाह्य एवं अन्तर के सामञ्जस्य में तर्क कभी सफल नहीं हो सकता। प्रकृति के रूप एवं आकार के सामञ्जस्य का स्वरूप सृष्टि रचनाकार की कलात्मक अनुभूति का फल है उसकी तर्कना का नहीं। तर्क तो सामञ्जस्य से दूर विशृङ्खलता का ही पोषक है। अस्तु मुझे तो सौन्दर्य तथा प्रकृति का कवि पन्त ही अधिक प्रिय है, मेरा विश्वास है कि वहीं पर उनकी प्रतिभा का सुन्दरतम रूप है। इसी से मैं पन्त जी की कविताओं का इसे पुनर्जन्म नहीं वरन् वर्गीकरण या नवीन नामकरण कहता हूँ पन्त जी हिन्दी साहित्य को बहुत कुछ दे

चुके हैं, उनकी प्रतिभा का प्रकाश अमर है किन्तु आज की उनकी कविताएँ किसी भी काव्य-प्रेमी को पुलकित नहीं कर सकतीं। अभिनन्दन शील कविताओं के लिये भारतीयों के समीप हनुमानचालीसा तथा राम रक्षा की अधिक महिमा है, ग्रामीण चित्रों के लिये प्रेमचन्द अधिक ग्राह्य हैं, सिद्धान्तों की हमारे यहाँ कभी कमी नहीं रही, सारा दर्शन इन्हीं से भरा पड़ा है अधिक से अधिक पन्त जी भी उसी में अपना योग दे देंगे। ध्यान पूर्वक सारी नवीन कविताएँ पढ़ जाने पर साफ़ पता चल जाता है कि राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक नियमों की जानकारी चाहे भले बढ़ गई हो, विचारों में, भावों में सहृदयता की अपेक्षा चाहे शुष्कता आ गई हो, अभिव्यक्ति में सूक्ष्मता के स्थान पर स्थूलता अथवा माँसलता का बाहुल्य हो, परन्तु काव्य की कोई विशेषता हमें नहीं मिलती है। परिवर्तन की भाँति देश का क्रन्दन नाद भी आज कहाँ है—

रुधिर के है जगती के प्रात,
चितानल के ये सायंकाल;
शून्य निश्वासों के आकाश,
आँसुओं के ये सिन्धु विशाल;
यहाँ सुख सरसों, शोक सुमेरु,
अरे जग है जग का कंकाल!

पन्त जी के बाद प्रगतिशीलता के इस अर्थ में कोई अन्य कवि उल्लेखनीय नहीं हैं। यों तो साहित्य में बहुत से बहुरूपिये अपने स्वार्थ साधन के लिये सामयिक साहित्यिक प्रवृत्तियों में प्रवेश करते रहते हैं किन्तु उनकी कुछ गणना नहीं, वे तो नदी के किनारे उगने वाली उस

घास के समान है जिसकी गति प्रवाह की अनुगामिनी होती है। उसका अपना अस्तित्व नहीं के बराबर होता है। हिन्दी के कुछ कवि भी इसी प्रकार यश लिप्सा के कारण, लोकरुचि के सम्मान की दृष्टि से अनुभव शून्य कोरी पद्य रचना करते हैं किन्तु उनका महत्व बरसाती मेढ़कों से अधिक कुछ नहीं है। बहुतेरे कवि तो स्कीमें तथा थीमें बनाकर भी कविता लिखते हैं, उनमें हमें सड़की नारों की उत्तेजना के सिवा कुछ नहीं मिलता है यथा—

जगी आज सोई मानवता
ले समता की सुन्दर साँस
शोषक वर्ग सभी संकित हैं,
सुन शोषित की सहज उसाँस !

× × ×

सब मनुज समान !
सबके नीचे पृथ्वी है सबके ऊपर है आसमान

अथवा—

भाई क्यों हो पीले पीले ? नस-नस में क्यों नीले नीले ?
धँसी हुई आँखों की ओटों, में क्यों हो तुम गीले गीले ?
ओठों पर जो आती हिचकी, बार-बार क्यों दबा रहे हो ?
कँपती आहों को हे भाई, बेर-बेर क्यों चबा रहे हो ?

इसी प्रकार की अनेक कविताएँ आज प्रगति के नाम पर लिखी जाती हैं।

यह मैं पहिले कह चुका हूँ कि कविता की, जीवन की, प्रगति से मेरा विरोध नहीं, क्योंकि उसके बिना तो संसार की स्थिति ही सम्भव नहीं

है परन्तु प्रगति के लिये एक साधना, सामर्थ्य तथा स्वास्थ्य की आवश्यकता होती है। सुनी सुनाई बातों का प्रतिपादन प्रगति नहीं है उसे तो मैं दुर्गति ही कहूँगा। इसका कारण भी है। प्रगति का यह स्वरूप हमारे भारतीय आदर्शों से दूर पड़ता है। हमारी सच्ची प्रगति का सूत्रपात श्री हरिश्चन्द्र ने किया था। उस समय के उनके रूपक तथा प्रतीक उतने संयमित तथा सबल न थे किन्तु जीवन की वास्तविक अभिव्यक्ति की चेष्टा अवश्य थी। प्रगति की विशेषताओं में जीवन की क्षुद्रता की ओर साहित्यिक संमवेदना होनी चाहिये। ऐसा करने में हमें साहित्य के सनातन सिद्धान्त की महत्ता के काल्पनिक तथा अनुभूतिमय चित्रणों के नीचे भी उतरना पड़ेगा किन्तु उसका अर्थ उच्छृंखलता कदापि नहीं होनी चाहिये। वह तो एक महान् कार्य होगा उसके लिये हम यही कहेंगे कि—'बरसहि जलद भूमि नियराये, यथा नवहि बुध विद्या पाये'। बादल अपनी उँचाई से भी जल वर्षण कर सकते हैं किन्तु वे समवेद्य की समीपता के लिये नीचे आ जाते हैं। उनको पुनः अपनी ऊपर चले जाने की शक्ति पर दृढ़ विश्वास भी रहता है। साहित्यकार को भी जीवन के क्षुद्र तथा पीड़ित अंश को सहानुभूति देने के पहिले यही स्वाभाविक शक्ति प्राप्त करनी चाहिये, अन्यथा वह संसार, समाज का भला न करके स्वयं भी उनकी भाँति उनके बीच में आकर भूमि भार बन जावेगा।

समवेदना से प्रभावित होकर जन साधारण के अभाव और उन की वास्तविक स्थिति तक पहुँचने का प्रयत्न यथार्थवादी साहित्य करता है, किन्तु ऐसा करने में यदि वह तत्कालीन सामाजिक कुरीतियों तथा रूढ़ियों का यथातथ्य चित्रण करने ही में व्यस्त हो जावेगा तो कुछ

गन्दे, अश्लील तथा अरुचिकर चित्रणों के सिवाय वह कुछ नहीं दे सकेगा। उसे चाहिये कि सामाजिक कुप्रथाओं के विरोध के साथ वह एक आदर्श भी जनता के सामने रखता जाय ताकि लोग अपनी करुण कथा का स्वरूप सामने देखकर केवल और दुखी न हो वरन् अपने सुधार का समाधान भी पाते जायँ। ऐसा यथार्थवाद जीवन की लघुता तथा गुरुता दोनों का साक्षी होता है। स्वाभाविक सामञ्जस्य ही उसकी चरम साधना होती है। कोरा यथार्थवाद तो उसी प्रकार होगा जिस प्रकार कहानी वाले बालक का साथी। कहानी इस प्रकार है—दो बालक साथ खेलते हुये आपस में लड़ गये एक ने उठा कर दूसरे के मुँह में एक पत्थर मार दिया किन्तु यथार्थ का मूल भाव वेदना होने के कारण रक्तपात देखकर मारने वाला स्वयं बहुत दुखी हुआ। आहत बालक ने कहा—जाकर औषधालय से दवा ले आओ। किन्तु दूसरा बालक इसके लिये तैयार न हुआ और कहने लगा—पहिले मैं घर से शीशा लाता हूँ अपनी चोट तो देख लो। शीशा देख कर आहत बालक घबड़ा कर बेहोश हो गया। अस्तु केवल यथार्थ-दर्शन का ऐसा ही परिणाम होता है। यह बात निर्विवाद सिद्ध है। इसके अतिरिक्त यथार्थवाद पद्य की अपेक्षा गद्य के अधिक उपयुक्त है।

काव्य का लक्ष्य तो सुन्दरम् है। सत्य तथा शिव तो उसके प्राथमिक चरण हैं। फूल में ही तो मूल के रस की परिणति है, फल तो उपलक्ष्य मात्र है। काव्य में उपयोगिता के पक्षपातियों से हमें यही कहना है कि काव्य के मूल प्राण सौन्दर्य का विकास होने पर किसी प्रकार के अशोभन के लिये अवकाश ही नहीं रह जाता, उसकी अनुभूति से हृदय में जो

आनन्द की उत्पत्ति होती है, उसमें किसी तरह का विकार पनप ही नहीं सकता है। यों तो संसार के सभी विषयों में अपवाद पाये जाते हैं, परन्तु स्वभावतः सुमनों में सुगन्ध ही पाई जाती है। कवित्व तो निष्काम होता है, क्योंकि वह स्वयं एक सुफल है, उसे किसी फल की अपेक्षा नहीं। काव्य की सबसे बड़ी देन आनन्द है। यह काव्यानन्द, ब्रह्मानन्द का सहोदर कहा गया है, जो अब तक के अनुभूत तथा काल्पनिक आनन्दों में सर्व श्रेष्ठ माना जाता है। आनन्द सदैव अतिरिक्त से उद्भूत होता है। दिन रात की मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद मनुष्य का जो ज्ञान, आत्म चिंतना से उत्तरोतर वृद्धि को प्राप्त होता रहता है, उसी संसार की व्यवहारिकता के अतिरिक्त ज्ञान से आनन्द की उपलब्धि होती है। काव्य इसी को सुलभ बनाता है। फिर हमें काव्य के माध्यम से पार्थिव सुख-साधनों की साधना क्यों करनी चाहिये ? किसी प्रिय प्रयोजनीयता से उसे बाँधना क्यों चाहिये ? यदि ठीक से देखा जाय तो इस सृष्टि के भी मूल में कोई प्रयोजन नहीं है। सृष्टि रचना भी अतिरिक्त आनन्द का ही फल है। यह केवल उस महामानव की आत्म प्रकाश की ज्योति का ही स्वरूप है। काव्य भी कवि के आत्म प्रकाश का सुन्दर स्वरूप है। उसे शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति में उपभोग करना एक प्रकार की निर्ममता है। विश्वव्यापी आत्मा का स्वरूप साम्य सभी को मान्य है अतएव काव्य केवल कवि की आत्मा का प्रकाश नहीं वह तो विश्व आत्मा का प्रकाश है, उसे किसी समाज अथवा वर्ग विशेष में खोजना भ्रमपूर्ण है। तुलसी, कबीर, कालिदास, दान्ते, गेटे तथा सेक्सपियर की रचनायें उनके हृदय के आनन्द के ही उद्गार हैं, इसीलिये वे सभी

को समभाव से प्रभावित करती हैं। आनन्द का उपभोग बिना संशय के सभी लोग करते हैं क्योंकि वह लौकिक शिक्षा तथा व्यवहार से परे की वस्तु है। उसके भीतर नीति, तत्व, शिक्षा तथा उद्देश्य की स्थापना करने से वह संकीर्णता में बँध जाता है, किन्तु जहाँ सत्य, सौन्दर्य तथा शिव की स्वाभाविक साधना से ही कवि काव्य की साधना करता है, वहाँ उसकी कविता अपनी आदर्शमयता एवं स्वाभाविक सरलता के कारण मानवता को उन्नत बनाने में सहज ही सफल होती है। ऐसी मेरी निश्चित धारणा है। किसी वृक्ष में लगे हुये, स्वतंत्र विकास से पके हुये फल की मिठास, उसको कच्चा तोड़कर गाँज कर पकाने में कभी नहीं प्राप्त हो सकती, वही दशा काव्य की भी है। क्रमिक विकास की अनुभव परिपक्वता में ही काव्य की मधुरता का आभास मिल सकता है, किसी सामयिक परिस्थिति एवं आँदोलन की सुचारुता का साधन बनाने में तो वह अपनी सत्ता ही खो देगा। मानवीय जीवन में सामयिक समस्याओं तथा शारीरिक साधनों के साथ कुछ शाश्वत समस्याओं तथा आत्मिक साधनों के भी समाधान चाहिये। काव्य हमारी सनातनता का ही साथी है। यही कारण है कि पीड़ित मानव काव्य की कमनीयता पर अनेकवार आघात करके अन्त में ग्लानि से विह्वल हुआ है और काव्य की स्थापना उसके सुन्दर रूपों में की है। क्रोध के क्षणिक आवेश में अनेकवार बालक अपने माँ बाप तथा अन्य प्रिय जनों से रूठ जाता है परन्तु उसके मन के किसी अज्ञात कोने में उनके प्रति उसकी जन्मजात स्वाभाविक ममता अक्षुण्ण रहती है, काव्य का स्थान राजनीति तथा अर्थ शास्त्र की प्रधानता में भी इसी प्रकार मानवात्मा

में सुरक्षित है। विज्ञान की बाह्य उपयोगिता से आकर्षित व्यक्ति, आज हृदय की उपेक्षा कर सकता है किन्तु उसकी व्यर्थता से थकने पर उसे एक बार फिर हृदय की ओर झाँकना पड़ेगा। इतिहास इसका साक्षी है।

कवि और कविता की इस व्याख्या के बाद हमें अपने समालोचकों से भी कुछ कहना है। समालोचना साहित्य का प्रधान अंग है। यदि साहित्य, जीवन की स्पष्टता की व्याख्या है तो समालोचना उसका स्वरूप निरूपण। आलोचक का कार्य नीर-क्षीर विवेक है। अतएव आलोचक को विद्वान, सहृदय, गुणग्राही तथा निष्पक्ष होना आवश्यक है। इन उपर्युक्त गुणों के बिना न तो वह किसी आलोच्य विषय के गुण समझ सकता, न उसका विवेचन सर्वमान्य हो सकता और न वह किसी साहित्य-स्वरूप की स्थापना ही कर सकता। आलोचक को अपने विषय में एक न्यायाधीश की तरह संयमित तथा नीतिज्ञ एवं नैतिक होना चाहिये। उसका काम वकील की प्रतिपादना नहीं न अभियोगी का बयान। साहित्य-निर्माण के अनेक उपादानों की भाँति आलोचना भी उसका एक आवश्यक उपादान है। संसार का वही साहित्य सार्थक एवं सत् होता है जहाँ आलोचना का प्राधान्य है। आलोचक का कार्य उस चतुर माली का है जो उपवन की सुन्दरता को अपनी साधनाशील समुन्नत रुचि से सँभाले रहता है, क्योंकि आलोचक का कार्य केवल किसी विषय या किसी साहित्यांग की व्याख्या मात्र नहीं है वरन् उसका कार्य उन विचारों तथा भावनाओं की उत्पादना करना है जिनसे साहित्यिकों के मन में, तथा जनता में, शुद्ध साहित्यिक सृजन की शक्ति का प्रादुर्भाव हो। इस

प्रकार आलोचक का क्षेत्र तथा कार्य बहुत विस्तृत एवं व्यापक हो जाता है। आलोचक का उत्तर दायित्व लेखक से भी बड़ा है।

आनन्द प्रत्येक प्राणी की प्रेय वस्तु है और उसकी स्थिति तथा उपलब्धि के लिये आलोचना अनिवार्य है। वैचित्र्य में ही सौन्दर्य की स्थिति है और आलोचना में ही उस स्थिति का स्पष्टीकरण। इस प्रकार हम सृष्टि को आलोचना तथा स्रष्टा को आलोचक कह सकते हैं। साहित्य को भी जीवन की आलोचना कहा गया है क्योंकि साहित्य हमारी विश्लेषणात्मक तथा भावात्मक प्रवृत्तियों से ही तो बनता है। जीवन तथा संसार को आलोचक ने ही तो यह सुन्दर रूप दिया है। सृष्टि की निर्जीव तथा निस्पंद मधुरिमा को आलोचक की चेतना ही ने जीवन दिया है। प्रकृति के गूढ़ रहस्यों का आलोचक ही ने उद्घाटन किया है, आलोचक के बिना उसकी उपयोगिता को भी कौन जानता ? आहार तथा विहार आदि सार सत्यों के साम्य के साथ भी आदमी सृष्टि का सर्व श्रेष्ठ प्राणी केवल अपनी आलोचना शक्ति के कारण ही बना। यह विश्व अनेक रूपात्मक हैं हमारा साहित्य भी अनेक रूपात्मक है। साहित्यकारों की रचनाओं में भी हमें वाह्य विभिन्नताओं का आभास दिखायी पड़ता है किन्तु आलोचक इन सबके बीच में एक सामञ्जस्य का सूत्र है। सत्य तक पहुँचने के लिये प्रत्येक जीवन की, प्रति प्राण की, प्रत्येक हृदय की बड़ी आकुल इच्छा होती है और सत्य के इसी अनुसन्धान में सब जीवनों की एकता का परिचय भी मिलता है। आलोचक साहित्य के शुभ अनुसन्धान में सारथी का काम करता है, जिस प्रकार सुन्दर से सुन्दर, नया से नया रथ, अपने बहुत ही बलवान घोड़ों के साथ भी बिना सारथी के निश्चित मार्ग पर

नहीं चल सकता उसी प्रकार साहित्य का संचरण भी बिना आलोचक के अनिश्चित ही रहेगा। एक सुगन्धित फूल उपवन में खिलता है किन्तु वह स्वयं अपनी सुगन्ध का वितरण नहीं कर सकता, यह काम तो पवन का है। बिना पवन प्रयास के फूल की मादक सुवास उसके दलों में ही समायी रहती, इसी प्रकार आलोचक के सुचारू संचालन के बिना साहित्य भी सीमित और अनुपयोगी सिद्ध होगा। सत्य की स्थापना भी प्रचार तथा प्रसार की अपेक्षा रखती है, इसी से कहा जाता है कि साहित्य, सृष्टि की, जीवन की, आलोचना है, चुनाव है, और आलोचक हमारी इस आलोचना की भी आलोचना करता है। हमने सृष्टि की आलोचना की औरों ने हमारी सृष्टि की।

साहित्य जीवन और जगत् की साधारण से साधारण वस्तु को लेकर उसे एक सुन्दर रूप देता है किन्तु उसे वह अपनी आत्म-शक्ति तथा अनुभूति से इस प्रकार रँग देता है कि कभी कभी वह जन सामान्य के लिये दुर्बोध तथा अस्पष्ट भी हो जाती है। इसका भी कारण है। प्रत्येक व्यक्ति सबसे सभी भाँति एक होकर भी सबसे भिन्न है, कलाकार तो और भी अलग होता है। नव अषाढ़ की श्यामल सजल मेघमाला को आसमान के नीले पट पर तैरते किसने नहीं देखा, किन्तु उसे बिरही यक्ष का प्रेम-दूत केवल कालिदास ही बना सका। इसी तरह साधारण में विशेषता, शिथिलता में वेग का संचार कलाकार कर देता है। इस आन्तरिक सौन्दर्य तथा सत्य की जानकारी जन साधारण को कराना ही एक सच्चे आलोचक का काम है। क्या हिन्दी में ऐसे आलोचक है ! नहीं है, अन्यथा आज की यह साहित्यिक अराजकता न फैलती। लोग

कवि तथा कविता को इस प्रकार अपने मनमाने क्षेत्रों में न घसीटते और साहित्य की यह पतनावस्था कदापि न आती। प्रत्यक्ष तथा गोचर स्थूल वस्तुओं के समझने में जन साधारण को भी कठिनाई नहीं होती परन्तु साहित्य तो बाहर के साथ भीतर की, मृत्यु के साथ जीवन की तथा कुरूप के स्वरूप की सम्भावना का द्योतक होता है, अस्तु आलोचकों की सहायता के बिना इसके विषय में भ्रम हो जाना स्वाभाविक है। जनता को आलोचक ही यह बता सकता है कि साहित्य में वाह्य सौन्दर्य की अपेक्षा सूक्ष्म सौन्दर्य की ही अधिक मान्यता है, शरीर के बजाय साहित्य हृदय को अधिक व्यक्त करता है।

संसार का इतिहास इस बात का साक्षी है कि साहित्य की विनाशकारी प्रवृतियों का समय समय पर आलोचकों ने अपनी तीव्रतम आलोचनाओं से किस प्रकार उच्छेदन किया है और जनता के बीच में निर्माणकारी शुद्ध साहित्य की स्थापना की है। आज की भाँति यदि साहित्य इसी संसार की सुख साधना का साधन माना गया होता तो उसमें आनन्द के बजाय तृष्णा का, स्नेह के बजाय घृणा का ही प्राधान्य मिलता परन्तु ऐसा नहीं है। साहित्य पारखियों ने यही माना है कि दूध में माखन, मेंहदी की हरी पत्तियों में लालिमा की भाँति साहित्य इस संसारी रूपकों में पैदा होकर भी पारलौकिकता को अपने में समाहित किये रहता है; किन्तु दूध से माखन तथा मेंहदी से लाली बाहर खीचने के लिये मंथन की ज़रूरत पड़ती है, साहित्य के सौन्दर्य प्राप्ति के लिये आलोचक का कार्य मंथन का है। हमारे आज के कतिपय आलोचक मंथन के परिश्रम से घबड़ा कर स्वयं भी जनता के साथ साहित्य की स्पष्टता पर आघात करने

लगते हैं, यदि ऐसा न हुआ तो किसी विषय विशेष, या वर्ग विशेष, यहाँ तक कि किसी व्यक्ति विशेष की उपासना में स्वयं अपने को समर्पण कर देते हैं। फिर उनको उसके बाहर जाने की आवश्यकता नहीं रह जाती, यहाँ उनका स्थान आलोचक का न होकर अन्ध गुण गायक का हो जाता है। यह मैं भी मानता हूँ कि प्रत्येक व्यक्ति एक ही प्रकार के साहित्य का चाहे वह बहुत ही स्वर्गीय हो, सुख नहीं उठा सकता क्योंकि कुछ उसकी अपनी कामनायें तथा भावनायें भी होती है, उसके हृदय का भी एक संसार होता है, जो इस वाह्य संसार से आकार प्रकार में किसी तरह कम नहीं होता किन्तु एक द्वार रक्षक की भाँति आलोचक का यह काम है कि वह उसे यह बता दे कि इस घर के भीतर तुम्हारे सुख का सामान सुलभ होगा और इसमें नहीं। एक लोभी दुकानदार की तरह अपने गन्दे माल के लिये भी ग्राहकों को प्रलोभन देना साहित्यिक आलोचकों का कार्य नहीं, क्योंकि आलोचना कोई व्यापार नहीं वरन् एक तपस्या है, साधना है और है जन जनार्दन की सेवा। मैं तो कहूँगा कि आज आलोचकों के अभाव का ही फल है कि साहित्य में कलुषित मनोवृत्तियाँ, स्वतंत्रता के नाम पर स्वेच्छाचार तथा एक प्रकार का अनउत्तर दायित्व फैल रहा है।

काव्य तो आवेग की, एक अनुभव की अभिव्यक्ति मात्र है। उसकी अभिव्यक्ति का रहस्य आत्म प्रकाश के सिवा कुछ नहीं है। हमारे सभी भावों का यही हाल है, हम उन्हें व्यक्त करने की व्यग्रता का अनुभव केवल अपने को संसार के सामने रखने के लिये ही करते हैं। साथ ही शायद हम यह भी जानना चाहते हैं कि हमारी यह केवल विक्षिप्तता

तो नहीं है, लोग भी इसे सत्य रूप में ग्रहण करते हैं या नहीं ? इसका निर्णय आलोचक के हाथ में रहता है। इससे सहज ही में अनुमान लगाया जा सकता है कि कितना महान् कार्य आलोचक को करना पड़ता है। उसकी थोड़ी भी असावधानी कितना अनर्थ कर सकती है। यह तो एक पुरानी कहावत है कि स्रष्टा पर शृङ्गार तथा द्रष्टा पर प्रचार निर्भर करता है, अतएव आलोचक केवल पाठक के लिये ही नहीं चाहिये वरन् वह साहित्य तथा साहित्यकार के लिये भी आवश्यक है। साहित्यिक अपने मन के सुन्दर भावों को एक कोमल तथा ललित रूप में व्यक्त करके रसलोलुप मानव मात्र को अपनी अभिव्यक्ति की मधुरिमा में मुग्ध कर लेना चाहता है, उसकी इस सफलता का सहायक आलोचक ही हो सकता है। अब तक आलोचक की इमत्ता को हम समझ चुके हैं अब उसकी लघुता की ओर भी कुछ ध्यान दें। स्रष्टा तो मनमानी सृष्टि करने में स्वतंत्र है परन्तु आलोचक ऐसा नहीं कर सकता, उसे तो एक विषय लेकर चलना पड़ता है, उसी की छानवीन वह कर सकता है अपनी ओर से न कुछ जोड़ सकता न कुछ घटा सकता। साहित्यिक सृष्टि के विषय के आधीन होकर ही आलोचक अपना कार्य सफलता से संचालन कर सकता है। आशय यह है कि साहित्यिक के मनोभावों तथा विचारों का पूर्ण परिचय प्राप्त किये बिना आलोचना करना अनधिकार चेष्टा मात्र है। साधारणतया किसी साहित्यिक रचना के ऊपर उलटी सीधी सम्मति प्रकट करने में अथवा किसी शैली के गुण दोष निकालने में आलोचना की विशेषता नहीं, वरन् उसकी विशेषता लेखक के भावों के रहस्योद्घाटन तथा उनकी परिस्थितियों के प्रतिपादन में है।

यदि आज हम आलोचकों की आलोचना करने बैठें तो बहुत कम आलोचक खरे उतरेंगे। इसका एक मात्र कारण निष्पक्षता की कमी है। जब भगवान राम ने तक कहा है कि—'समदर्शी मोहि कह सब कोऊ, सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ'। तब हम बेचारों की क्या बात हैं, किन्तु आलोचना तो तभी पूर्ण और प्रभावशाली हो सकती है जब वह निरी निष्पक्ष हो, व्यक्तिगत व्यवहारों तथा संबन्धों से रहित हो।

हमारी आलोचना ऐसी नहीं वह तो पक्षपात पूर्ण तथा व्यक्तिगत कारणों से प्रभावित होती है। इसके दो प्रत्यक्ष कारण सम्भव हैं, एक तो किसी विशेषवाद अथवा नीति एव वर्ग का समर्थक होने के कारण। दूसरे किसी साहित्यिक विशेष पर अपनी एक अलग एकान्त सम्मति रखने के कारण। आज का आलोचक यदि किसी की तारीफ करेगा तो उसे तुरन्त मानवत्व से देवत्व में स्थापित कर देगा और यदि बुराई करेगा तो उसे तुरन्त दानवत्व की उपाधि से आभूषित कर देगा। कभी-कभी तो व्यक्तिगत मनोविकारों के फलस्वरूप साधारण शिष्टता को भी लोग पार कर जाते हैं। कृतियों के साथ व्यक्तियों की भी आलोचना होती है। गन्दे आक्षेपों का आधिक्य रहता है। कभी कभी किसी सुन्दर कृति पर भी आलोचक मौन रह जाते हैं, उनका कहना है कि जिस चीज़ को प्राधान्य नहीं देना उसके विषय में चुप रहना ठीक है। इसी मूकता का फल है आज का साहित्यिक उत्पात। प्रगतिशीलता का नया आँदोलन हिन्दी में अभी दो चार वर्ष से चल रहा है परन्तु किसी एक भी विशिष्ट आलोचक ने इस पर आपनी राय प्रकट नहीं की। सभी दूर से चुपचाप देखते हैं। जनता बेचारी भ्रम में पड़ी है। जो कुछ इसके विषय में

थोड़ा बहुत लिखा भी गया, वह विषय को लेकर, धारा को लेकर, मनोवृत्ति को लेकर नहीं वरन् व्यक्ति को लेकर लिखा गया है। जिससे विषय के समझने में सहायता नहीं मिलती। किसी साहित्यिक अंश या विषय की जय-पराजय, सुन्दरता-कुरूपता तथा उपयोगिता-अनुपयोगिता व्यक्ति से उतना सम्बन्ध नहीं रखती जितना समूह से, अतएव यदि आज हम छायावाद तथा रहस्यवाद की काव्यगत विशेषताओं की व्यर्थता भी सिद्ध करें तो उस विषय के कवियों को गाली नहीं भी दे सकते, उनके व्यक्तित्व पर आक्षेप नहीं भी कर सकते। इसी प्रकार यदि हमें नये प्रगतिशीलता वाद की अनुपयोगिता तथा अनुभव शून्यता का प्रतिपादन करना है तो इसके उपासक लेखकों के व्यक्तित्व की मखौल उड़ाना हम छोड़ ही सकते हैं, परन्तु ऐसा है नहीं। मेरा आलोचकों से आवेदन है कि अपनी इस संकुचित मनोवृ ति को छोड़कर साहित्य में सत्य तथा सनातनता की स्थापना की चेष्टा करें, ताकि हमारा साहित्य और साहित्यकार दोनों अपने उपयुक्त गौरव को प्राप्त करें।

अन्त में मैं अपने साहित्य सम्बन्धी विचारों को भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। मैं साहित्य के किसी 'वाद' तथा 'धारा' एवं शैली का उपासक नहीं हूँ। मुझे तो केवल साहित्य की उपासना अपेक्षित है। मैं अपने को वीतराग भी नहीं कह सकता परन्तु साहित्य में मेरा व्यक्तिगत राग-विराग मेरा संचालक नहीं। मुझे तो एक सुन्दर फूल चाहे वह जिसके उपवन का हो बराबर मुग्ध करता है। कुरूपता चाहे जिसकी हो, मुझे अप्रिय है। मैं साहित्य को भावात्मक तथा आदर्शात्मक अभिव्यक्ति मानता हूँ विशेष कर काव्य तो इससे बाहर किसी प्रकार भी

नहीं जा सकता। छायावाद का चाहे पन्त जी युगान्त कर दें, जोशी जी विनाश कर दें किन्तु मेरे लिये तो उसकी काव्यगत विशेषता सदैव प्रिय तथा स्थिर सी है। कवि ने इस विश्व को अपने भीतर खींचने में जो अमर अनुभूतियाँ पायी हैं वह मेरे समीप सदैव, साहित्य भाण्डार में सुरक्षित रहेगीं। मैं मनुष्य के अनुभूति सूचक ज्ञान को विज्ञान से अधिक स्थायी मानता हूँ क्योंकि साहित्य में स्वयं विज्ञान केवल बुद्धिमय नहीं रह जाता वह प्रसादपूर्ण तथा रहस्यमय एवं भावमय बनकर साहित्य का स्वरूप धारण कर लेता है। इसीसे तो विज्ञान का सूखा सत्य सामयिक तथा साहित्य का सरस सत्य शाश्वत है। इसी तरह साहित्य और समाज का सम्बन्ध भी शाश्वत है, किन्तु वे एक दूसरे के प्रतिरूप नहीं। साहित्य एकदम समाजगत नहीं हो सकता, समाज की सभी मान्यताएँ साहित्य में स्थान नहीं पा सकती, किन्तु साहित्य की सभी मान्यताएँ समाज के लिये सहायक सिद्ध हो सकती हैं। समाज में हमारे अतीत का क्षीणा-भास तथा वर्तमान ही रहता है साहित्य में हमारे भविष्य के संकल्प तथा मनोरथ भी रहते हैं। समाज केवल संसार की व्यावहारिकता का सहायक है, साहित्य संसार तथा स्वर्ग दोनों का सन्धि सूत्र है। समाज की गति मन्द तथा साहित्य की तीव्र होती है। गति तो अस्तित्व की शपथ है, अस्तु साहित्य सनातन तथा गतिशील होता है। साहित्य में काव्य, मेरे हृदय तथा मेरी भावनाओं के, मेरे शरीर तथा मेरी बुद्धि की अपेक्षा अधिक समीप पड़ता है। छायावाद की कविताओं के विषय में अब कुछ अधिक न कह कर मुझे बस यही कहना है कि—

जागो बेसुध रात नहीं यह !
भींगी मानस के दुख जल से,
भीनी उड़ते सुख परिमल से,
हैं बिखरे उर की निश्वासें,
मादक मलय बतास नहीं यह !

पारद के मोती से चंचल,
मिटते जो प्रतिपल बन ढुल ढुल,
हैं पलकों में करुणा के अणु,
पाटल पर हिम हास नहीं यह !

कूलहीन तम के अन्तर में,
दमक गई छिप जो क्षण भर में,
हैं विषाद में बिखरी स्मृतियाँ,
घन चपला का लास नहीं यह !

श्रमकण में ले ढुलते हीरक,
अंचल में ढक आशा-दीपक,
तुम्हें जगाने आई पीड़ा,
स्वप्नों का परिहास नहीं यह !
जागो बेसुध रात नहीं यह !

—:o:—